॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

श्री १०८ आचार्य श्री ज्ञानसागर दि० जैन ग्रन्थमाला पुष्प ४

कर्तव्य-पथ-प्रदर्शन

लेखकः—
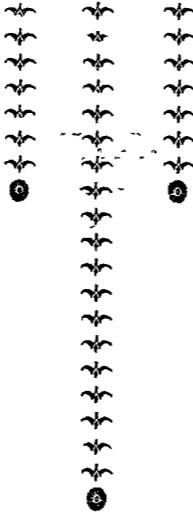
ज्ञानमूर्ति चारित्र विभूषण

आचार्य श्री १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराज

प्रकाशक:—
श्री दिगम्बर जैन पंचायत
किशनगढ़ रैनवाल (राजस्थान)

तृतीय वार १०००	वीर निर्वाण सं० २४९६	मूल्य सदुपयोग

मुद्रक—
नेमीचन्द बाकलीवाल
कमल प्रिन्टर्स
मदनगंज-किशनगढ़ (राज०)

* श्री *

प्रकाशकीय वक्तव्य

हमारे असीम पुण्योदय से परम पूज्य ज्ञानमूर्ति चारित्र-विभूषण बाल ब्रह्मचारी वयोवृद्ध आचार्य श्री १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराज ने ससंघ-बाल ब्रह्मचारी मुनिराज श्री १०८ श्री विद्यासागरजी, ऐलक श्री १०५ श्री सन्मतिसागरजी, क्षुल्लक श्री १०५ श्री सुखसागरजी, नवदीक्षित क्षुल्लक श्री १०५ श्री विनयसागरजी तथा ब्रह्मचारी श्री मांगीलालजी व ब्र० श्री दीपचन्दजी रेनवाल (किशनगढ़) में चातुर्मास स्थापित करके महती धर्म प्रभावना की है। रेनवाल (किशनगढ़) के इतिहास में किसी दिगम्बर निर्ग्रंथ आचार्य संघ का चातुर्मास होना सर्वप्रथम अभूतपूर्व घटना है। इस ग्राम का व इधर के क्षेत्र का, जो ज्ञान व चारित्र पालन की दृष्टि से बहुत ही पिछड़ा हुआ है, परम सौभाग्य ही समझना चाहिए कि ऐसे परमपूज्य सत महात्मा का इधर पदार्पण हुआ है। गत अषाढ़ शुक्ला १० रविवार सं० २०२७ को संघस्थ ब्रह्मचारी श्री जमनालालजी (वर्तमान में क्षुल्लक विनयसागरजी) को दी गई क्षुल्लक दीक्षा का समारोह तो इतना अभूतपूर्व व प्रभावोत्पादक साबित हुआ कि उपस्थित करीब ५००० जैन अजैन जनता हर्षोल्लास से उमड़ी पड़ती थी और दिगम्बर साधुओं की वीतरागी मुद्रा के सामने नतमस्तक होकर आशीर्वाद प्राप्त करके अपना अहोभाग्य समझती थी।

चातुर्मास के समय में आचार्य महाराज के द्वारा सारा समय धर्मध्यान, ग्रन्थ स्वाध्याय व संघस्थ साधुओं के अध्यापन में व्यतीत होने के साथ साथ "छहढाला" अध्यापन के रूपमें प्रौढ़ शिक्षण शिविर भी चल रहा है जो बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है व धार्मिक संस्कृति की तरफ से बिलकुल अनभिज्ञ व्यक्तियों को ज्ञान प्राप्त करने की ओर रुचि धारण करानेवाला साबित हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ "कर्तव्य पथ प्रदर्शन" का प्रकाशन पहिले हो चुका है परन्तु इस ग्रन्थ की उपयोगिता को देखते हुए किशनगढ़ रेनवाल की समाज ने पूज्य आचार्य महाराज के चातुर्मास की पावन स्मृति में इसका तृतीय संस्करण प्रकाशन कराया है।

पूज्य आचार्य महाराज के चातुर्मास से स्थानीय समाज को धर्म लाभ करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है अतः समाज की तरफ से उनके पुनीत चरण कमलों में पुनः पुनः पूर्ण श्रद्धा के साथ सविनय श्रद्धांजलि समर्पित करते हैं व पूज्य आचार्य महाराज के स्वास्थ्य की कामना करते हुए दीर्घायु होने की भगवान् महावीर से प्रार्थना करते हैं।

रेनवाल चातुर्मास
वि० सं० २०२७

विनीतः—
समस्त दिगम्बर जैन समाज
रेनवाल (किशनगढ़)

प्रस्तावना

ज्ञानमूर्ति चारित्रविभूषण आचार्य श्री १०८ श्री ज्ञानसागरजी हाराज ने 'कर्तव्य-पथ-प्रदर्शन' नाम के इस ग्रन्थ की रचना करके मानव समाज पर बड़ा उपकार किया है।

मनुष्य के जीवन मे जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त जो भी घटनाएँ घटती है उनके हर पहलू पर व्यापकता से मानव को अपने कर्तव्य पथ पर चलने की प्रेरणा इस ग्रन्थ से मिलती है।

आचार्य ज्ञानसागरजी वास्तव में ज्ञान के सागर हैं। आपकी विद्वत्ता से सारा जैन समाज परिचित है। आप गृहस्थों तथा त्यागियों को जैन शास्त्रों का अध्ययन कराने में निरन्तर संलग्न रहते हैं।

आचार्य श्री १०८ श्री ज्ञानसागरजी (प० भूरामलजी) का जन्म भारतवर्ष की वीरभूमि राजस्थान के राणोली (सीकर) ग्राम में हुआ। आपकी पूज्य माता का नाम श्रीमती घृतवली देवी और पिताजी का नाम श्री चतुर्भुजजी था। आप खण्डेलवाल वैश्य जाति से सम्बन्ध रखते है। वैसे तो आप कुमार ब्रह्मचारी हैं परन्तु अठारह वर्ष की अवस्था में अध्ययनकाल मे ही नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर लिया था। आज से २० वर्ष पूर्व आपने गृह त्याग कर श्री दिगम्बर जैन आचार्य पूज्य श्री १०८ वीरसागरजी महाराज की सेवा में प्रवेश किया। कई वर्षों तक क्षुल्लक तथा ऐलक अवस्था का अभ्यास करते हुए जयपुर नगर में समस्त परिग्रह का त्याग करके श्री १०८ पूज्य आचार्य श्री शिवसागरजी द्वारा दिगम्बरी दीक्षा धारण की।

आप संस्कृत के तथा जैन आगम के बड़े प्रकाण्ड पण्डित हैं। मुनि संघ मे आपने उपाध्याय के रूप में मानव कल्याण का

कार्य किया है। और अब समस्त जैन समाज में एक सिद्धान्त वेत्ताचार्य के रूप में आप सुशोभित हो रहे हैं।

साधारण से साधारण व्यक्ति को भी धर्म तत्व को समझाने की दृष्टि से सरल शब्दों में आम बोलचाल की हिन्दी भाषा का प्रयोग करके आपने इस ग्रन्थ की रचना की है।

परिस्थितिवश अथवा अज्ञानता के कारण बहुत से घरानों में माता-पिता, पिता-पुत्र-भाई-बहिन, पति-पत्नी, भाई-भाई, सास-बहू के जीवन में नई-नई उलझनों के कारण एक दूसरे के आपसी सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं और जीवन में कटुता आ जाती है। गृह सम्बन्धी उलझनों को सुलझाने के लिये, तथा सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में सम्यक्पूर्ण कार्य करने के लिये 'कर्तव्य-पथ-प्रदर्शन' ग्रन्थ का अध्ययन एक मार्गदर्शन देता है।

यह ग्रन्थ सन् १६६० में प्रथम बार व सन् १६६४ में द्वितीय बार प्रकाशित किया गया और इतना लोकप्रिय हुआ कि जैन समाज के अतिरिक्त अन्य समाज में भी इसकी मांग होने लगी। बढ़ती हुई मांग को देखते हुए अब तृतीय बार यह ग्रन्थ आज के मानव समाज में सुख और शान्ति लाने के लिये काफी सहायक होगा।

कोई भी ग्रन्थ लिखा जाकर यदि प्रकाशित न हो तो मानव समाज उसके लाभ से वंचित रह जाता है। जहाँ सद्ग्रन्थों की रचना में महात्माओं का भारी उपकार माना जाता है वहाँ ग्रन्थों के प्रकाशन करने तथा कराने में जिन व्यक्तियों का सहयोग होता है वे भी समाज की दृष्टि में आदरणीय समझे जाते हैं।

गली छबीलदास
हिसार

देवकुमार जैन
भू० पू० ओनरेरी सब-रजिस्ट्रार

* श्री *

कर्तव्य पथ--प्रदर्शन

❀ इष्ट स्तवनम् ❀

कर्तव्य पथ हम पामरों के लिए भी दिखला रहे ।
हो आप दिव्यालोकमय करुणानिधे गुणधाम हे ।।
फिर भी रहें हम भूलते भगवन् स्वकीय कुटेव से ।
इस ही लिये इस घोर संकटपूर्ण भव वन में फँसे ।।

(१) मनुष्य की मनुष्यता—

माता के उदर से जन्म लेते ही मनुष्य तो हो लेता है फिर भी मनुष्यता प्राप्त करने के लिये इसे प्रकृति की गोद में पल कर समाज के सम्पर्क में आना पड़ता है। वहाँ इसे दो प्रकार के सम्पर्क प्राप्त होते हैं–एक तो इसका बिगाड़ करने वालों के साथ, दूसरे इसका भला चाहने वालों के साथ। अत: इसे भी दोनों ही तरह की प्रेरणा प्राप्त होती है। अब यदि यह इसका भला करने वालों के प्रति भलाई का व्यवहार करता है कि अमुक ने मेरा अमुक कार्य निकाला है, मैं उसे कैसे भूल सकता हूँ, इसके बदले में मेरा सर्वस्व अर्पण करके भी मैं उनसे उऋण नहीं बन सकता। इस प्रकार

आभार मानने वाला एवं समय आने पर यथाशक्य उसका बदला चुकाने की सोचते रहने वाला आदमी मनुष्यता के सन्मुख होकर जन से सज्जन बनने का अधिकारी होता है। हां, अपने अपकार का भी उपकार ही करना जानता हो उसका तो फिर कहना ही क्या ? वह तो महा जन होता है। कोई २ ऐसा होता है जो भलाई का बदला भी बुराई के द्वारा चुकाया करता है उसे जन कहें या दुर्जन। कर्तव्यता की सीढ़ी पर खड़ा हुआ आदमी एक जगह नहीं रह सकता। वह या तो ऊपर की ओर बढ़े या नीचे को आना तो अवश्यम्भावी है ही। घड़ी का काँटा चाबी देने के बाद रुका नहीं रह सकता, उसी प्रकार मनुष्य भी जब तक साँस है तब तक निठल्ला नहीं रह सकता चाहे भलाई के कार्य करे या बुराई के, उसे कुछ तो, करना ही होगा। अतः बुराइयों में फँस कर अवनत बनने की अपेक्षा से भलाई के कार्य करते चले जाना एवं अपने आपको उन्नत से उन्नततर बनाना ही मनुष्यता है। बन्धुओं! बहुत से देश ऐसे हैं जहाँ भलाई के साधन अत्यन्त दुर्लभ हैं। वहाँ के लोगों को परिस्थिति से बाध्य होकर अपना जीवन पशुओं जैसा बिताना पड़ता है। परन्तु हम भारतवासियों के लिये तो उन सब भले साधनों की आज भी सुलभता है। हमारे बुजुर्ग या महर्षियों ने प्रारम्भ से ही सामाजिक रहन सहन ऐसा सुन्दर स्थापित कर रखा है कि हम उसे अनायास ही अपने जीवन में उतार सकते हैं और अपने आपको सज्जन ही नहीं बल्कि सज्जन शिरोमणि भी बना सकते हैं। फिर भी हम उनका सदुपयोग न करके उनके विरुद्ध चलें यह तो हमारी ही भूल है।

(२) हम उन्नत कैसे बनें ?

पानी से पूछा गया कि तुम्हारा रंग कैसा है ? उत्तर मिला कि से रंग का सम्पर्क मिल जावे वैसा। अर्थात् पानी पीले रंग के साथ में घुलकर पीला, तो हरे रंग के साथ में घुलकर हरा बन जाता है। ऐसा ही हाल इस मनुष्य का भी है। इसको प्रारम्भ से जैसे भले या बुरे की संगति प्राप्त होती है वैसा ही वह खुद हो जाया करता है। अभी कुछ वर्षों पहले की बात है—लखनऊ के अस्पताल में एक प्राणी लाया गया था जोकि अपनी चाल ढाल से भेड़िया बना हुआ था, परन्तु वस्तुतः वह मनुष्य था। जो कि कच्चे मांस के सिवा कुछ नहीं खाता था। भेड़िये की आवाज़ में ही बोलता था। वैसे ही अपनी शारीरिक चेष्टा-झपट्टा मारना वगैरह करता था। बात ऐसी है कि एक नन्हें बालक को भेड़िया उठा ले गया। बालक के माँ-बाप ने सोचा कि उसे तो भेड़िया खा गया होगा परन्तु भेड़िये ने उसे अपने बच्चे के समान पाला पोषा। जैसा मांस आप खाता था वैसा कुछ मांस उस बच्चे को भी दे दिया करता था एवं अपने पास उसे प्रेम-पूर्वक रखा। करीब १२-१४ वर्ष की अवस्था में वह उन अस्पताल वालों की निगाह में आ गया और चिकित्सा के लिए लाया गया। धीरे २ अब वह कच्चा मांस खाने की अपेक्षा पकाया हुआ मांस खाने लगा और कोई कोई जबान मनुष्य की सी बोलने लग गया। मतलब यही कि मनुष्य जैसी सोहबत संगत में रहता है वैसा ही बन जाता है। बुरों के साथ में रहने से अपने आप बुरा बनते हुए औरों का भी बुरा करने वाला होता है। तो

अच्छों के साथ में रहकर खुद अच्छा होता चला जाता है। एवं समाज का भी भला करने वाला होता है। अतः हमें चाहिये कि हम भले लोगों की संगति में रहें और भले वनें, यही हमारी उन्नति है।

(२) सत्संगति का सुफल

एक वार की वात है, एक वहेलिया दो तोते लाया। उनमें से उसने एक तो किसी वेश्या को दे दिया और दूसरे को एक पण्डित जी के हाथ वेच दिया। थोड़े दिन के वाद वेश्या एक रोज महफिल करने राज दरवार में पहुँची। उसका तोता उसके हाथ में था सो पहुँचते ही राजा के सम्मुख अनेक प्रकार के भण्ड वचन सुनाने लगा। राजा को गुस्सा आया और उसने हुक्म दिया कि इसे मार डाला जावे। तोता वोला हुजूर। मैं मारा तो जाऊँगा ही परन्तु इससे पहिले मुझे मेरे भाई से मिला दीजिये। राजा ने कहा तेरा भाई कहाँ है? तोते ने कहा। गिरधरजी शर्मा के यहाँ रहता है। उसी समय राजदूत गया और मय तोते के गिरधरजी शर्मा को वुला लाया। गिरधरजी शर्मा तो वोले ही नहीं उनके पहिले ही उनके तोते ने आते ही राजा को अनेक तरह के शुभाशीर्वाद दिये, राजा वहुत खुश हुआ, सहसा राजा के मुंह से निकल पड़ा कि शावाश जीते रहो तुम और तुम्हारा साथी। वेश्या वाले तोते ने कहा कि तब फिर तो मैं भी अव अमर वन गया क्योंकि इसका साथी तो मैं ही हूँ। राजा असमञ्जस में पड़ गया तो पंडितजी वाले तोते ने वकालत की कि प्रभु इसमें विचारने की क्या वात है? यह

दुष्ट है, सचमुच इसने आपके साथ बुरा बर्ताव किया है, किन्तु आप तो सज्जनों के सरदार हैं, आपका तो काम बुरा करने वालों के साथ भी भला बर्ताव करना ही होना चाहिये। पृथ्वी के पूत, पेड़ों का भी यह हिसाब है कि वे लोग पत्थर मारने वाले को भी उसके बदले में मीठा फल प्रदान किया करते हैं। आप तो पृथ्वी के पति हैं, सम्पूर्ण प्रजा के नाथ हैं, आपका तो सभी के साथ प्रेम होना चाहिये। हाँ! यदि यह भी सचेतन होगा तो आगे के लिए अपने इस दुर्व्यवहार का त्याग कर सही मार्ग का अनुसरण करेगा, बस इतना ही कहना पर्याप्त है।

(४) सुभाषित ही सञ्जीवन है

जिस को सुनकर भूला भटका हुआ आदमी ठीक मार्ग पर आजावे और मार्ग पर लगा हुआ आदमी दृढ़ता के साथ उसे अपनाकर अपने अभीष्ट को प्राप्त करने में समर्थ बन जावे उसे सुभाषित कहते हैं। यद्यपि बिना बोले आदमी का कोई भी कार्य सुचारु नहीं होता, किन्तु अधिक बोलने से भी कार्य होने के बदले वह बिगड़ जाया करता है। समय पर न बोलने वाले को मूक कह कर उसका निरादर किया जाता है तो अधिक या व्यर्थ बोलने वाले की भी वावदूक या वाचाल कहकर भर्त्सना ही की जाती है। तुली हुई और समयोचित बात का ही दुनियाँ में आदर होता है। यहाँ हमें महाभारत के एक प्रसंग का स्मरण हो आता है। कौरवों और पाण्डवों में घमासान युद्ध हो रहा था। इधर पाण्डव पाँच भाई थे तो उधर भी कर्ण, भीष्म, जयद्रथ आदि प्रमुख योद्धा थे बल्कि

द्रोणाचार्य तो बाण विद्या के अधिनायक थे, जो कि कौरवों की तरफ से खड़े होकर पाण्डवों की सेना में विध्वंस मचा रहे थे। यह देखकर श्रीकृष्ण के दिल में विचार आया कि अगर कुछ देर भी ऐसा होता रहा तो आज अवश्य ही पाण्डवों की पराजय हो जायेगी, इतने ही में एक हाथी मारा गया, श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर के पास जाकर पूछा कि भूपते कौन मारा गया? युधिष्ठिर इसका उत्तर अनुष्टुप चरण में अश्वत्थामाहतोहस्ती इस प्रकार से देने वाले थे, उन्होंने बोलना प्रारम्भ करके अश्वत्थामा हतो इतना ही बोला था कि उसी क्षण श्रीकृष्ण ने अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजा दिया। लोगों ने समझा कि द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा मारा गया। अश्वत्थामा मुख्य योद्धाओं में से था, अतः इसे सुन कर पाण्डवों की सेना में उत्साह छा गया और कौरवों की सेना भंग होकर उसमें शोक छा गया और पुत्र शोक से द्रोणाचार्य का भी भुजबल ढीला पड़ गया। इसका नाम है अवसरौचित बात, जिससे कि अनायास ही कार्य सिद्ध हो जाता है। हाँ, व्यर्थ की बकवाद करने वाला आदमी अपने आप विपत्ति के गर्त में गिरता है।

व्यर्थवादी की दुर्दशा

जंगल में एक तालाब था, उसका जल ज्येष्ठ मास की प्रखर धूप से सूख कर नाम मात्र रह गया। उसके किनारे पर रहने वाले दो हंसों ने आपस में सलाह की कि अब यहाँ से किसी भी अन्य जलाशय पर चलना चाहिये, जिसको सुनकर उनके मित्र कछुवे ने

कहा कि—"तुम लोग तो आकाश मार्ग से उड़ कर चले जाओगे, परन्तु मै कैसे चल सकता हूँ ?" हंसों ने सोचा बात तो ठीक ही है और एक अपने मित्र को इस प्रकार विपत्ति में छोड़ कर जाना भी भलमानसियत नहीं है, अतः अपनी बुद्धिमत्ता से एक उपाय सोच निकाला। एक लम्बी सरल लकड़ी लाये और कछुवे से कहा कि "तुम अपने मुंह से इसे बीच में से पकड़ लो, हम दोनों इसके इधर उधर के अन्त भागों को अपनी चोंचों से पकड़ कर ले उड़ते हैं, यह ठीक होगा।" इस प्रकार तीनों आसमान में चलने लगे। चलते २ धरातल पर मध्य में एक गाँव आया। गाँव के लोग नया दृश्य देख कर अचम्भे में पड़े और आपस में कहने लगे कि—"देखो यह कैसा विचित्र खेल है।" यों कल कल मचा देखकर कछुवे से न रहा गया, वह बोल पड़ा कि क्यों चक चक करते हो, बस फिर क्या था, धड़ाम से जमीन पर गिर पड़ा और पकड़ा गया। मतलब यह है कि मनुष्यों में अपने भले के लिये शारीरिक संयम के साथ २ वाणी का भी संयम होना चाहिये। शारीरिक संयम उतना कठिन नहीं है जितना कि मनुष्य के लिये वाक् संयम, एवं मानसिक संयम तो उससे भी कहीं अधिक कठिन है। वाणी का संयम तो मुँह बंद किया और हो सकता है, किंतु मन तो फिर भी चलता ही रहेगा। मनुष्य का मन इतना चंचल है कि वह क्षण भर में कहीं का कहीं दौड़ जाता है। उसके नियन्त्रण के लिए तो सतत साधु-संगति और सत्साहित्यावलोकन के सिवाय और कोई भी उपाय नहीं है। यद्यपि साधुओं का समागम हरेक के लिये सुलभ नहीं है फिर भी उनकी लिखी हुई पुस्तकों को पढ़कर अपना जीवन सुधारा जा सकता है।

(६) सत्साहित्य का प्रभाव

सुना जाता है कि महात्मा गाँधी अपनी वैरिस्ट्री की दशा में एक रोज रेल से मुसाफिरी कर रहे थे। सफर पूरे बारह घण्टों का था। उनके एक अंग्रेज मित्र ने उन्हें एक पुस्तक देते हुए कहा कि आप अपने इस सफर को इस पुस्तक के पढ़ने से सफल कीजियेगा। उसको गांधीजी ने शुरू से आखिर तक बड़े ध्यान से पढ़ा। उस पुस्तक को पढ़ने से गाँधीजी के चित्त पर ऐसा असर हुआ कि उन्होंने अपनी वैरिस्ट्री छोड़कर उसी समय से सादा जीवन बिताना प्रारम्भ कर दिया। आजकल पुस्तक पढ़ने का प्रचार आम जनता में भी बड़े वेग से बढ़ रहा है और वह बुरा भी नहीं है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति को पढ़ने के लिये पुस्तक ऐसी चुननी चाहिये जिसमें कि मानवता का झरना बह रहा हो। जिसके प्रत्येक वाक्यों में निरामिष-भोजिता, परोपकार, सेवा भाव आदि सद्गुणों का पुट लगा हुआ हो। विलासिता, अविवेक, डरपोकपन आदि दुर्गुणों का निर्मूलन करना ही जिसका ध्येय हो। फिर चाहे वह किसी की भी लिखी हुई हो और किसी भी भाषा में हो उसके पढ़ने में कोई हानि नहीं। कुछ लोग समझते हैं कि अपनी साम्प्रदायिक पुस्तकों के सिवाय दूसरी पुस्तकों का पढ़ना सर्वथा बुरी बात है, परन्तु यह उनका समझना ठीक नहीं क्योंकि समझदार के लिये तो बुराइयों से बचना एवं भलाई की ओर बढ़ना यह एक ही सम्प्रदाय होना चाहिये। अतः जिन पुस्तकों के पढ़ने से हमारे मन पर बुरा असर पड़ता हो, जिनमें अश्लील, उद्दण्डतापूर्ण अहंकारादि दुर्गुणों

को अंकुरित करने वाली बातें अंकित हों ऐसी पुस्तकों से अवश्य दूर रहना चाहिये। पुस्तकों से ही नहीं बल्कि ऐसे तो वातावरण से भी हर समय बचते ही रहना चाहिये, क्योंकि मनुष्य के हृदय में भले और बुरे दोनों ही तरह के संस्कार हुआ करते हैं जो कि समय और कारण को पाकर उदित हो जाया करते हैं। व्यापार करते समय मनुष्य का मन इतना कठोर हो जाता है कि वह किसी गरीब को भी एक पैसे की रियायत नहीं करता, परन्तु भोजन करने के समय में कोई भूखा, अपाहिज आ खड़ा हो तो उसे झट ही दो रोटी दे देता है। मतलब यही कि उस-२ स्थान का वातावरण भी उस-२ प्रकार का होता है, अतः मनुष्य का मन भी वहाँ पर उसी रूप में परिणमन कर जाया करता है। आप जब सिनेमा हॉल में जावेंगे तो आपका दिल वहाँ की चहल-पहल देखने में लालायित होगा परन्तु जब आप चलकर श्री भगवान् के मन्दिरजी में जावेंगे तो वहाँ यथाशक्ति नमस्कार-मन्त्र का जाप देना और भजन करना जैसे कामों में आपका मन प्रवृत्त होगा। हाँ, यह बात दूसरी है कि अच्छे वातावरण में रहने का मौका इस दुनियादारी के मनुष्य को बहुत कम मिलता है, इसका अधिकांश समय तो बुरे वातावरण में ही बीतता है। अतः अच्छे विचार प्रयास करने पर भी कठिनता से प्राप्त होते हैं। और प्राप्त होकर भी बहुत कम समय तक ही ठहर पाते हैं। किन्तु बुरे विचार तो अनायास ही आ जाया करते हैं तथा देर तक टिकाऊ होते हैं। अतः बुरे विचारों से बचने के लिए और अच्छे विचारों को बनाये रखने के लिये सत्साहित्य का अवलोकन, चिन्तन अवश्य करते रहना चाहिये।

(७) साधु समागम

अपने विचारों को निर्मल बनाने के लिये जिस प्रकार है सत्साहित्य का अध्ययन करना जरूरी है उसी प्रकार अपने जीवन को सुधारने के लिये मनुष्य को समीचीन साधुओं का संसर्ग प्राप्त करना उससे भी कहीं अधिक उपयोगी होता है। मनुष्य के मन के मैल को धोने के लिये उत्तम साहित्य का पठन पाठन, जल और साबुन का काम करता है। परन्तु पुनीत साधुओं का समागम तो इसके जीवन में चमत्कार लाने के लिये वह जादू का सा कार्य करता है जैसे कि लोहे के टुकड़े के लिए पारस का संसर्ग। अतः विचारशील मनुष्य को चाहिये कि साधुओं का सम्पर्क प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहे और प्राप्त हो जाने पर यथाशक्य उससे लाभ उठाने में न चूके ऐसा करने से ही मनुष्य अपने जीवन को सफल और सार्थक बना सकता है। आज से लगभग अढ़ाई हजार वर्ष पहले की बात है कि भगवान महावीर के शिष्य सुधर्म स्वामी देश देशान्तर में भ्रमण करते हुये और अपने सदोपदेशामृत से जनता का कल्याण करते हुए आकर राजगृह नगर के उपवन में ठहरे। उन के आने का समाचार सुन कर राजगृह की जनता उनके दर्शन को आई और उनके धर्मोपदेश को सुन कर एवं अपनी योग्यतानुसार मनुष्योचित नियम व्रत लेकर अपने २ घर को गई। उन्हीं में एक जम्बूकुमार नाम का साहूकार का लड़का था, उसने सोचा स्वामीजी जब यह फरमा रहे हैं कि मनुष्य जन्म को पाकर इसे एकान्त क्षणिक विषय वासना के चक्कर में ही नहीं बिता

देना चाहिये किन्तु कुछ पारमार्थिक कार्य तो करना ही चाहिये। अहो! यह भोला मनुष्य जिस भौतिक विभूति के पीछे लग कर चल रहा है, एक न एक दिन तो इसको उसे छोड़ना ही होगा। अगर यह उसे न छोड़ेगा तो अन्त में वह तो इसे अवश्य छोड़ ही देगी। परन्तु यह उसे छोड़ दे और वह इसे छोड़े इन दोनों बातों में उतना अन्तर तो कम से कम अवश्य है जितना कि मनुष्य के टट्टी-जाने में तथा उल्टी हो जाने में हुआ करता है। अर्थात् आप जब प्रातः जंगल होकर आते हैं तो आपका चित्त प्रसन्न होता है किन्तु समुचित भोजन करें और भोजन करने के अनन्तर ही किसी कारण से कै हो जावे तो आपका जी मिचलावेगा, बस यही हिसाब सम्पत्ति के छोड़ देने और छूट जाने में है, अतः प्राप्त सम्पत्ति को छोड़कर दूर होना ही मनुष्य के लिये श्रेयस्कर है एवं जिस दलदल से निकलना दुष्कर होकर भी आवश्यक है तो फिर अधिक समझदारी तो, इसी में है कि उसमें फँसना ही क्यों चाहिये। बस, मैं तो अब चलूं और माता पिता से आज्ञा लेकर आकर इन गुरुदेव के चरणों की सेवा में ही अपने आपको लगादूं, ऐसा सोचकर जम्बूकुमार घर पर गया ही था कि माता पिता ने पूछा कि इतनी देर तक कहाँ रहे? जम्बूकुमार बोला कि "एक साधु महात्मा के पास बैठ गया था और अब मैं सदा के लिये उन्हीं के पास रहना चाहता हूँ।" माता पिता यह सुनकर अवाक् हो रहे। कुछ देर सोच कर फिर बोले कि—"बेटा तू यह क्या कह रहा है? देखो हम तो तेरी शादी की तैयारियां कर रहे हैं और तू ऐसी बात सुना रहा है जिससे कि हमारा कलेजा काँप उठता है, कम से कम

तुझे शादी तो कर लेनी चाहिये। तू खुद समझदार है, तुझे हमारी इस प्रसन्नता में तो गड़बड़ी नहीं मचानी चाहिये।"

(८) सकामता के साथ निष्कामता का संघर्ष।

माता पिता ने सोचा इसे छोटी सी बात कहकर मनवा लेना चाहिये, फिर तो यह खुद ही अपने दिल में आई हुई बात को भूल जावेगा। बस यही सोचकर उन्होंने कहा था कि विवाह तो करलो। इस पर जम्बू ने विचार किया कि ये माता पिता हैं। इनका इस मेरे शरीर पर अधिकार है अतः इस साधारण सी बात के लिये नाराज करना ठीक नहीं है। वैरागी का अर्थ किसी को नाराज करना या किसी पर नाराज होना नहीं है। वह तो स्वयं आत्मावत् परमात्मा को समझा करता है। उसकी निगाहों में तो जितनी अपने आप की कीमत होती है उतनी ही दूसरे की भी। फिर ये तो मेरे इस जन्म के माता पिता हैं, इनका तो इस शरीर की ओर निगाह करते हुए बहुत ऊँचा स्थान है। फिर कहा कि—"ठीक है, आप कहते हैं तो मैं विवाह कर लूंगा किन्तु दूसरे ही रोज गुरु-चरणों में जा प्राप्त होऊंगा। जिन आठ लड़कियों के साथ जम्बू का विवाह होना निश्चित हुआ था उन्हें भी सावधान कर दिया गया। उन सब ने जबाब दिया हम तो प्रतिज्ञा कर चुकी हैं कि इस जन्म में तो हमारे ये ही पति हैं, इनके अतिरिक्त और सब नर तो हमारे बाप, भाई समान हैं अतः बेखटके शादी रचा दी जावे, फिर या तो हम उन्हें लुभा लेंगी या हम सब भी उन्हीं के मार्ग का अनुसरण कर लेंगी। विवाह हो गया और सुना जाता है कि उसमें

इन्हें ९९ करोड़ के सोने का दहेज मिला परन्तु जहाँ वैराग्य है वहाँ चक्रवर्ती की सम्पदा भी तिनके के समान निस्सार है, वह उसकी नहीं, अगर है भी तो दुनियां की है। अस्तु, रात हुई और रंगमहल में जहाँ कि विषयानुराग वर्द्धक सभी तरह का परिकर सम्भव से भी अधिक संख्या में जुटाया गया है वहाँ एक तरफ तो दिल से समता को सँभाले हुये स्वयं जम्बूकुमार विराज रहे थे, उधर दूसरी तरफ उनकी नव विवाहिता आठों पत्नियाँ वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर ममता की मोहक महक लिये हुये आकर खड़ी थीं ? जो कि अपना रंग उन पर जमाना चाह रही थीं, परन्तु वहाँ उनके चित्त पर तो साधु सुधर्माचार्य की चरण सेवा का अमिट रंग लगा हुआ था वहाँ दूसरा रंग कैसे चढ़ सकता था ?

इधर एक और घटना घटी। एक प्रभव नाम का प्रख्यात चोर था, जो कि पांचसौ चोरों का सरदार था, उसने सुना कि जम्बू को दहेज में खूब धन मिला है, चलो आज उसी पर हाथ साफ किया जावे। इस चोर की यह विशेषता थी कि जहाँ भी वह जाता था वहाँ के लोगों को नीन्द लिवा देता था और अपना काम बड़ी आसानी से कर लिया करता था। वह आया और धन की गठरियाँ बाँध कर चलने को तैयार हुआ तो उसके पैर चिपक गये और चोर आश्चर्य में पड़ा और इधर उधर देखने लगा तो बगल के कमरे में औरत मर्द आपस में बात कर रहे थे। चोरी का फिक्र छोड़ कर प्रभव वहाँ पहुँचा और जम्बू को उसने जुहारु किया, जम्बूकुमार बोले कौन है ? प्रभव ! तुम आज यहाँ इस समय कैसे आये ? प्रभव ने कहा प्रभो अपराध क्षमा कीजिये, मैं चोरी करने के

लिये आया था। आज तक मैं मेरे काम में कहीं भी असफल नहीं हुआ किन्तु आज आपने मुझे हरा दिया। आपके पास ऐसा कौनसा मंत्र बल है कि जिससे धन लेकर जाते हुये मेरे पैर चिपक गये। जम्बूकुमार बोले प्रभव! मुझे तो पता ही नहीं कि तुम कब आये और क्या कर रहे थे, मैं तो सिर्फ गुरुचरणों की सेवा का मन्त्र जपता हूँ और अपने मन में उसी की टेर लिये हुये हूँ, प्रभात होते ही मैं उनके पास में जाकर निर्ग्रन्थव्रत ग्रहण करने वाला हूँ। तब फिर इस सारी सम्पत्ति को तुम ले जाना। मैं स्वेच्छा से इसका अधिकारी तुम्हें बनाता हूँ, फिर इसमें चोरी करने की वात कौनसी है? ऐसा सुनकर प्रभव बहुत प्रभावित हुआ, उसने मन में सोचा कि-यह भी तो पुरुष ही है जो प्राप्त हुई सम्पत्ति (लक्ष्मी) को इस तरह से ठुकरा रहा है। और कहने के लिये तो मैं भी पुरुष ही हूँ जो कि एक पागल की तरह इसके पीछे फिर रहा हूँ फिर भी यह मुझे प्राप्त नहीं होती, तथा हो भी जाती है तो ठहरती नहीं है।

(६) लक्ष्मी का पति

सुना जाता है कि एक बार लक्ष्मी का स्वयंवर हो रहा था। उसमें सभी लोग अपनी शान और शौकत के साथ आ सम्मिलित हुए थे। जब स्वयम्वर का समय हुआ तो लक्ष्मी आई और बोली कि मैं उसी पुरुष को वरूंगी जो कि स्वप्न में भी मेरी इच्छा न रखता हो। इस पर सब लोग बड़े निराश और हतप्रभ हो रहे। लक्ष्मी चलती २ अन्त में वहाँ पर आई जहाँ शेष नाग की शैय्या पर विष्णु महाराज वेफिकर सोये हुए थे। आकर उसने उनके गले

में वरमाला डाल दी। विष्णु बोले कौन है ? तो जवाब मिला कि लक्ष्मी हूँ। फिर कहा गया कि चली जावो यहाँ से, तुम क्यों आई हो, यहाँ पर मुझे तुम्हारी कोई जरूरत नहीं है। लक्ष्मी बोली, प्रभो; मुझे मत ठुकराइये मैं सिर्फ आपकी पगचम्पी करती रहूँगी। बंधुओं! यह सब अलंकारिक कथन है, इसका मतलब तो इतना ही है कि जो विपत्ति से डरता है और सम्पत्ति चाहता है उससे सम्पत्ति स्वयं दूर हो जाती है। परन्तु जो सम्पत्ति को याद भी नहीं करता एवं विपत्ति आ पड़ने पर उससे घबराता नहीं है, उस पुरुष के चरणों को सम्पत्ति स्वयं चूमती है। प्रभव को भी इससे आज प्रतिबोध प्राप्त हुआ, वह विचारने लगा कि जब ऐसी बात है तो फिर मैं भी इस बोझे को अपने सिर पर लादे क्यों फिरूं ? बल्कि जिस मार्ग को यह सेठ का लड़का अपना रहा है, उसी पथ का पथिक मैं भी क्यों न बन रहूं ? जिसमें सबका हित हो ऐसा सोच कर वह जम्बूकुमार के चरणों में गिर पड़ा और बोला कि प्रभो! अब मुझे इसकी भूख नहीं रही, आपके वचनामृत से ही मैं तो तृप्त हो गया हूँ, अतः अब मैं सिर्फ यह चाहता हूँ कि मुझे भी आप अपने चरणों में ही जगह दें, न कि मुझे अब भी इस कीचड़ में ही फँसा रहने दें। इससे हमें यह सीख लेनी चाहिये कि एक साधुसेवी के संसर्ग में आकर भी जब प्रभव सरीखा दुरहंकारी जीव सहसा निरहंकार हो जाता है, दानव से मानव बन जाता है, तो फिर साक्षात् साधु समागम की महिमा का तो कहना ही क्या ? उसके तो गीत, वेद और पुराणों में जगह २ पर गाये हुए हैं। अतः अपने

आपको सुधारने के लिए साधु संगति करनी ही चाहिए, जिससे कि मनुष्य का मन धैर्य क्षमादि गुणों को पाकर बलवान बने।

(१०) मनोबल ही प्रधान बल है

वैसे तो मनुष्य के पास में ज्ञानबल, धनबल, सेनाबल, अधिकार बल और तपोबल आदि अनेक तरह के बल होते हैं, जिनके सहयोग से मनुष्य अपने कर्तव्य कार्य के इस पार से उस पार पहुँच पाता है, परन्तु उन सब बलों में शरीरबल, वचनबल और मनोबल ये तीनों बल उल्लेखनीय बल हैं। मनुष्य को अपने सभी तरह के कार्य सम्पादन करने के लिये उसे शारीरिक बल तो अनिवार्य है। जितना भी हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ होगा वह उतना ही प्रत्येक कार्य को सुन्दरता के साथ सम्पादित कर सकेगा, यह एक साधारण नियम है। अतः उसको प्रगतिशील बनाये रखने के लिये समुचित आहार की जरूरत समझी जाया करती है और उसकी चिन्ता सभी को रहा करती है एवं अपनी बुद्धि, विवेक तथा वित्त-वैभव के अनुसार हर कोई ही उसकी अच्छी से अच्छी योजना करने में कुछ कसर नहीं रखता है। यह तो ठीक है, परन्तु वचन का अधिकार तो उस शरीर से कहीं अधिक होता है। शरीर द्वारा जिस काम को हम वर्षों में भी सम्पादित नहीं कर पाते, उसे अपनी वचनपटुता से बात की बात में हल कर बता सकते हैं। बच्चे को जब प्यास लगती है, या उसका पेट दुखता है तो वह रोता है, छटपटाता है, हाथ पैर पटकता है। माता भी उसके दुःख को मिटाना चाहती है, किंतु उस की अंतर्वृत्ति को नहीं पहचान पाती, अतः कभी २ विपरीत प्रतिकार

हो जाता है तो प्रत्येक वेदना बढ़ती है। बाकी वहाँ वश भी क्या चले, बच्चे के पास तो वचन नहीं है ताकि वह कह सुनावे और उसका समुचित उपाय कर बताया जावे। इसी प्रकार संसार का सारा व्यवहार प्राय वचन के भरोसे पर ही अवलम्बित है, जिसकी कि खुराक स्पष्ट सत्यवादिता है, सो क्या इसकी तरफ भी आप सब लोगों का ध्यान कभी गया है ? किन्तु नहीं। बल्कि अधिकांश लोग तो अपने वचन को कूटत्व नाम क्षय रोग से उपयुक्त बनाकर ही अपने आपको धन्य मानते हैं। उनके इस ऐसा करने में उनकी एक मानसिक दुर्बलता ही हेतु है। मानसिक कमजोरी से ही उनकी यह धारणा बनी हुई है कि एकान्त सत्य सरल या स्पष्ट वाक्य प्रयोग से मनुष्य का कभी निर्वाह नहीं हो सकता। उसको अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये उसमे कुछ २ बनावटीपन जरूर ले आना चाहिये। बस इसकी इस मानसिक दुर्बलता ने सम्पूर्ण व्यवहार को दूषित बना दिया, ताकि सर्वत्र अविश्वास के आतंक ने अपना अधिकार जमा लिया, एवं जीवन-पथ कष्टप्रद हो गया। मनुष्य की जीवन यात्रा में इसका मन सईस का काम करता है। वचन घोड़े का और शरीर गाड़ी का। अगर गाड़ी मजबूत भी हो और घोड़ा भी चुस्त हो किंतु उसको हांकने वाला सईस निकम्मा हो तो वह उसे ठीक न चला कर उत्पथ में ले जावेगा एवं बरबादी कर देगा वैसे ही मनुष्य का मन भी चचल हो रहने पर किसी भी कार्य को करके भी उसमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। एक समय की बात है कि एक भट्टारकजी का शिष्य था, जो कि एक मंत्र लेकर जपने को बैठ गया। उसको जप करते हुए जब कई रोज हो गये तो

भट्टारकजी ने उससे पूछा कि तू क्या कर रहा है ? उसने कहा कि महाराजजी मैं अमुक रूप से यह मन्त्र जप रहा हूँ, फिर भी यह सिद्ध नहीं हो रहा है, क्या मेरे विधि विधान में कुछ कसर है ? गुरुजी बोले कमी तो कुछ भी नहीं दिखती है परन्तु ला देखें, जरा मुझे दे, यों कहकर भट्टारक गुरुजी ने उस मन्त्र को जपना प्रारम्भ किया और एक जप पूरा होते ही मन्त्र सिद्ध हो गया। मन्त्र का अधिष्ठाता देव आ उपस्थित हुआ। गुरुजी बोले भाई इस लड़के को मन्त्र जपते हुए आज कई रोज हो गये सो क्या बात है ? देव बोला महाराज ! मैं क्या करूं ? इसका मन ही अपना इसके वश में नहीं है। मन्त्र को जपते हुये भी यह क्षण में तो कुछ सोचता है और फिर क्षण में कुछ और ही सोचने लगता है। मतलब यह है कि हरेक कार्य को सम्पन्न करने के लिये सबसे पहले हमें अपने मन को एकाग्र करने की आवश्यकता है, भले ही वह कार्य लौकिक हो, चाहे पारमार्थिक, मन की एकाग्रता के विना वह कभी ठीक नहीं हो सकता। व्यापार, व्यवहार, शास्त्र शोधन, भगवद् भजन आदि कोई भी कार्य हो, उसको हम जैसी मानसिक लगन से करेंगे उतना वह सुन्दर सुचारु होकर यशप्रद होगा। नेपोलियन के लिये कहा जाता है कि वह एक बार युद्ध की व्यवस्था ठीक २ कर देता था और फिर आप युद्ध भूमि में ही गणित के सवाल किया करता था। डेरों, तम्बुओं पर गोले बरसते, धड़ाधड़ सैनिक मरते किन्तु नेपोलियन का मन गणित का सवाल हल करने में ही लगा रहता था। खलीफा उमर की भी ऐसी ही बात सुनी जाती है। लड़ाई के मैदान में ही जब नमाज का वक्त हो जाता, वह निडर हो कर युद्ध

स्थल के बीच में ही घुटने टेक कर नमाज पढ़ने लगता था, फिर उसे यह पता नहीं रहता था कि कहाँ क्या हो रहा है। एक फकीर के शरीर में तीर चुभ गया, जिससे उसे बड़ी पीड़ा हो रही थी। तीर को वापिस खैंचने के लिए हाथ लगाने से वेदना दूनी हो जाती थी, अब क्या किया जावे बड़ी कठिन समस्या हो गई, उसको देखकर लोग घबराये तो एक आदमी बोला अभी रहने दो, जब यह नमाज पढ़ने बैठेगा तब निकाल लेंगे। सायं का समय हुआ फकीर नमाज पढ़ने लगा, पलभर में ही उसका चित्त इतना एकाग्र हुआ कि उसके शरीर में से तीर खैंचकर निकाल लिया गया, और उसे पता भी नहीं चला। जम्बूप्रसादजी रईस सहारनपुर वालों के शरीर में एक भयंकर फोड़ा हो गया, डाक्टर बोला ऑपरेशन होगा, क्लोरोफार्म सूंघना पड़ेगा, लालाजी बोले क्या जरूरत है? मैं नमस्कार मन्त्र जपने लग रहा हूँ, तुम अपना काम निःशंक होकर करलो। सो यह सब मन को एकाग्र कर लेने की महिमा है। मन को एकाग्र कर लेने पर मनुष्य में अपूर्व बल आ जाता है। हमारे पूर्व साहित्य में हमें ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिल रहे हैं, जिनमें न होने जैसी बातें भी होती हुई बताई गई हैं। जैसे— द्रोपदी को नग्न करने के लिए उसकी साड़ी पकड़ कर दुःशासन खैंचता है तो साड़ी बढ़ती चली जाती है। मगर द्रोपदी नग्न नहीं होने पाती, यह सब महासती के चित्त की एकाग्रता का ही प्रभाव तो है, हम लोग ऐसी बातों को सुन कर आश्चर्य करते हैं, किन्तु जिस चित्त की एकाग्रता द्वारा यह आत्मा अपनी अनादिकालीन कर्म कालिमा को भी क्षण भर में दूर हटा कर परमात्मा बनता हुआ

जन्म मरण से भी रहित हो लेता है उस मन की एकाग्रता की सामर्थ्य के आगे फिर ये सब बातें क्या दुष्कर कही जा सकती हैं।

(११) मन की एकाग्रता कैसे प्राप्त हो।

मन को एकाग्र करना, शान्त बनाना बड़े महत्व की बात है, यह तो समझ में आता है परन्तु विचारों का गुब्बार हमारे इस पोले मनमें भरा हुआ है उसे निकाल बाहर किये बिना मन की एकाग्रता हो कैसे। प्रथम तो इसके पास, मैं यह खा लूं, यह पी लूं फिर टहल लूं और सो लूं इत्यादि इतने विचार उपसंग्रहीत हैं कि उनका दूर करना सरल बात नहीं है। और अगर कहीं प्रयास करके इन ऊपरी विचारों को दूर कर भी दिया तो यह तो मकड़े की भाँति प्रतिक्षण नये विचारों को जन्म देता ही रहता है। सो उन भीतरी विचारों पर रोक लग जाने का तो कोई भी उपाय नहीं दीख पड़ता है। बल्कि जहाँ ऊपरी विचार चक्र को दूर करने के लिए प्रयत्न करो तो भीतरी विचार परम्परा बड़े वेग के साथ उमड़ पड़ती हैं। ऐसी दशा में मन को यदि शान्त, एकाग्र किया जाय तो कैसे ? बात यह है कि इस बाह्य अपार संसार-चक्र को हम अपनी मनोभावना के द्वारा अपने पीछे लगाये हुयें ही रहते हैं। दिव्यज्ञान शक्ति को परमात्मा परमेश्वर के साथ तन्मय होकर रखने के बदले हम उसको दुनियाँ की क्षुद्र बातों में ही व्यर्थ खर्च करते रहते हैं। आज यह रोटी मोटी हो गई और एक जगह से जल भी गई, यह साग भी अच्छा नहीं बना, इसमें नमक कम पड़ा इत्यादि जरा जरा सी बातों की चर्चा में ही हम रस लेते हैं और अपने ज्ञान

का दुरुपयोग करते हैं। एवं मन की दौड़ निरन्तर बाहर ही होते रहने से यह निरंकुश बन गया है। अगर किसी के कहने सुनने से भगवान का भजन भी किया तो सिर्फ दिखाऊ। ऐसी दशा में यहाँ आसन जमा कर बैठना और आँखें मूंदना आदि सब व्यर्थ हैं। जैसा कि कहा है:—

दर्भासन पर बैठ कर माला ली कर माहिं;
मन डोले बाजार में यह तो सुमिरण नाँहि।

प्रायः लोगों का यही हाल है। कथा सुनने बैठे तो नीन्द सताती है और बिस्तर पर जाकर लेटते है तो चिन्ता आ घेरती है। यह कर लिया तो यह बाकी है और वह उजड़ रहा है इत्यादि विचार उठ खड़े होते है। नीन्द आ जाने पर भी स्वप्न में भी ये ही सब बातें याद आती रहती है। क्योंकि हम इन्द्रियों की वासनाओं के गुलाम बने बैठे हैं तो एकाग्रता कहाँ? एकाग्रता के लिये तो जीवन में परिमितता आनी चाहिये हमारा सारा कार्यक्रम नपा, तुला समुचित होना चाहिये। औषधि जैसे नाप तोल कर ली जाती है वैसे ही हमारा खाना और सोना आदि सभी बातें नपी तुली होनी चाहिये। प्रत्येक इन्द्रिय पर नियन्त्रण होना चाहिये। एक महाशय बोले कि मैं जहाँ जाता हूं वहाँ उस कमरे की तमाम चीजों को देख सकता हूँ। मैंने कहा भगवन् मनुष्य ऐसा क्यों करे, क्या वह किसी का पहरेदार है या चोर, ताकि उसे ऐसा करना चाहिये यह तो अपनी आँखों का दुरुपयोग करना है। मनुष्य की आँखें तो इसलिये हैं कि वह अपना आवश्यकीय कार्य देख भाल कर सावधानी से करे। यही हिसाब कानों के लिये भी होना चाहिये, यदि श्री सद्गुरु का

आदेश उपदेश हो तो उसे मनुष्य ध्यान पूर्वक सुने और याद रखे किन्तु किसी की भी निन्दा को सुनने के लिये कभी भी तैयार न हो। मिट्टी के तेल की बदबू से नाँक नहीं सड़ सकती परन्तु मनुष्य के दुश्चरित्र की बदबू फैल जाने से उसका खुद का जीवन बर्बाद हो जावेगा और धरातल को भी गन्दा बनाने में अग्रसर होगा। अतः बुरी बातों से हमें सदा बचते रहना चाहिये। मद्य मांस सरीखी सदोष चीजों को तो कभी याद भी नहीं करना चाहिये किन्तु निर्दोष वस्तुओं को भी आवश्यकता से अधिक प्रयोग में लाने से परहेज होना चाहिये इस प्रकार अपने इन इन्द्रिय-रूपी घोड़ों को बे-लगाम न दौड़ने देकर इनके लगाम रखना ही मनोनिग्रह का मूल मन्त्र है जो कि सन्त महन्तों की संगति से प्राप्त हो सकता है। अतः सत्संगी बनना ही मनुष्य का आद्य कर्तव्य माना गया है। हाँ, एक बालक के पास से भी इसी विषय का सबक सीखा जा सकता है। आप किसी भी बच्चे को लीजिये वह जिस चीज की तरफ देखता है; टकटकी लगा कर देखता है। अगर उधर ही आप भी देखते हैं तो आपकी आँखों की पलकें दस बार झपकेंगी किन्तु उसकी एक बार भी नहीं! क्योंकि बच्चे के संम्मुख जो चीज आती है तो वह उसी को अपने उपयोग में पकड़ना चाहता है कि यह क्या है और कैसी है! और किसी बात की उसे चिन्ता नहीं होती, बस इसीलिये वह उसे गौर से देखता है ताकि उसके दिल पर उसका प्रभाव पड़े, जो कि घर कर लेता है, फिर अनेक प्रयत्न करने पर भी उसका दूर हटाना कठिन हो जाता है, इसीका नाम संस्कार है। लड़के को शुरू के दो चार सालों में जो शिक्षा

मिलती है जिसे कि वह अपनी स्वाभाविक सरलता से ग्रहण करता है, बाद में वैसी सुदृढ़ होकर रहनेवाली शिक्षा अनेक वर्षों में भी उसे नहीं दी जा सकती। बाद की शिक्षा सब कृत्रिम पने को लिये हुये होती है। और इस लिये आप लोगों को चाहिये कि आप अपने बच्चों के आगे कभी भूलकर भी बुरी चेष्टा और बुरी बात न करें क्योंकि बच्चे का दिल एक प्रकार का कैमरा होता है।

जो कि आपकी की हुई चेष्टाओं के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है। बच्चे के मन में विश्वास भी नैसर्गिक होता है। उसकी माँ उसे जो भी कहे वही उसके लिये प्रमाण। जो कुछ कहानियाँ जिस रूप से उसे कही जाती हैं वे सब उसे अक्षरशः सच मालूम होती हैं। वह तो अपनी माता को ही अपना हित करने वाली मान कर उसके कहने में चलना जानता है, अपनी माता पर उसकी अटल श्रद्धा रहती है। वह उसे जैसा कहे वैसा करना जानता है और कुछ भी नहीं, बस इसीलिये उसके चित्त में व्यग्रता न होकर एकाग्रता अधिक होती है।

(१२) बाल जीवन की विशेषता।

एक नवजात बालक भी अपने जीवन में खाना पीना सो जाना आदि अपनी अवस्थोचित बात तो करता ही है परन्तु वह अपने सरल भाव से जो करता है और जब तक करता है फिर उसे छोड़ दूसरी बात करने लगता हो तो उसी में संलग्न हो जाता है। उसे उस समय फिर पहले वाली बात के बारे की कुछ भी चिन्ता नहीं रहा करती। जब भूख लगी कि माता के स्तनों को पकड़ कर

खुशी से चूसने लगता है किन्तु जहाँ पेट भरा कि उन्हें छोड़ कर खेलने लगता है या सो जाता है, फिर भूख लगी कि उठकर दूध पीने लगता है। एवं पेट भरा कि फिर मस्त। उसे इस बात की भी चिन्ता नहीं कि यहाँ पर क्या हो रहा है और आगे क्या होने वाला है। वह तो सिर्फ दो ही बातें जानता है खुद करना एव बुजुर्ग लोगों का अनुकरण करना। अतः चोरी, जारी, झूठ पाखण्ड आदि बुरी बातों से प्राकृतिक रूप में वह परे रहता है। आप किसी बच्चे से पूछिये कि आज क्या खाया था, तो वह जैसा खाया है कहता है कि सिर्फ मट्ठे के साथ में रूखी जुवार की रोटी खाई थी क्योंकि वह इस बात से परे है कि इसे ऐसा कहने से मेरे कुटुम्ब वालों की बेइज्जती होवेगी। वह तो अपने सरल भाव से जैसा कुछ खाया है सो बतावेगा, फिर उसकी अम्मा भले ही इस बात की मरम्मत करती हो कि क्या करूं, बच्चे को पेचिश हो रही है इसलिये मुझे भी यही खानी पड़ी और इसे भी यही खिलाई। अस्तु बच्चा उपर्युक्त रूप से सरल और स्पष्ट बातें करता है इसीलिये उसकी बोली सबको मीठी लगती है। जो भी सुनता है उसका चित्त बड़ा प्रसन्न हो उठता है अगर उसका हिसाब सदा के लिये ऐसा ही बना रहे तो यह मनुष्यता का सौभाग्य समझना चाहिये किंतु यह जब अपने जीवन क्षेत्र में आगे बढ़ता है और अपने माता पिता आदि को या अड़ोसी पड़ोसी को नाना प्रकार की बहानाबाजी की चालाकी भरी बातें करते हुए देखता है तो अनुकरणशीलता के कारण आप भी वैसा ही या उनसे भी कहीं अधिक चालाक हो लेता है। भारत माता की गोद में पला हुआ होने के नाते से समाज का स्वयं-सेवक

हो रहने के वदले, इन्द्रियों का दास वनकर जनता के जीवन पथ में कण्टकस्थानीय प्रमाणित होता है, औरों को घोर कष्ट पहुँचा कर भी अपने स्वार्थ की पूर्ति करने में ही तत्पर रहना, हर एक के साथ पेचीदा वातें करके केवल अपना मतलव गाँठना, दूसरे के हक को हड़प करने में कुछ भी संकोच न करना, अश्लील भद्दी चेष्टायें कर के अपने आपको धन्य समझना और गुरुजनों की वातों को भी ठुकरा कर अपना उल्लू सीधा करना, किसी को भी अपनी चालाकी के आगे कुछ भी नहीं समझना इत्यादि रूप से एकान्त कठोरता को अपना कर प्रत्युत मानवता के वदले दानवता को स्वीकार कर वैठता है। हाँ, यदि उसको शुरू से ही तुली हुई प्रमाणित वात करने वाले महापुरुषों का संसर्ग प्राप्त होता रहे तो वहुत कुछ संभव है कि उपर्युक्त बुराइयों से सर्वथा अछूता रहकर दया क्षमाशील सन्तोषादि सद्गुणों का भण्डार वनते हुये वही वालक से पुरुषोत्तम भी वन सकता है।

(१३) दया की महत्ता।

किसी भी प्राणी का कोई भी तरह का कुछ भी विगाड़ न होने पावे, सब लोग कुशलता पूर्वक अपना २ जीवन व्यतीत करें ऐसी रीति का नाम दया है। दयावान का दिल विशाल होता है, उसके मन में सवके लिये जगह होती है। वह किसी को भी वस्तुतः छोटा या वड़ा नहीं मानता, अपने पराये का भी भेदभाव उसके दिल से दूर रहता है। वह सव आत्माओं को समान समझता है तभी तो वह दूसरे का दुःख दूर करने के लिये अपने आपका

वलिदान करने में भी नहीं हिचकिचाता है। एक वार की वात है कि एक हाई कोर्ट के जज साहव अपनी मोटर में सवार होकर कचहरी को जा रहे थे। रास्ते में जाते हुए देखते हैं तो कीचड़ में एक सूअर फँसा हुआ है जो कि निकलने के लिये छटपटा रहा है। जज साहिव ने अपनी मोटर रुकवाई और खुद अपने हाथों से उस सूअर को निकाल कर वाहर किया। सूअर ने अपने अङ्ग फड़फड़ाये जिससे जज साहिव के कपड़े छींटाछींट हो गये। कचहरी को देर हो रही थी। अतः उन्हीं कपड़ों को पहने हुए मोटर में वैठ कर फिर कचहरी को रवाना हो लिये। लोगों ने जव जज साहव का यह हाल देखा तो लोग आश्चर्य में डूव गये कि आज उनका ऐसा ढङ्ग क्यों है, ड्राइवर ने वीती हुई वात वताई तो सव लोग वाह २ कहने लगे। जज साहिव वोले कि इसमें मैंने वड़ी वात कौनसी की है? मैंने सूअर का दुःख दूर नहीं किया वल्कि मैंने तो मेरा ही दुःख दूर किया है। मुझसे उसका वह दृश्य देखा नहीं गया तव मैं फिर और क्या करता?

ठीक ही है किसी को भी कष्ट में पड़ा देखकर दयालु पुरुष का दिल द्रवित हो उठता है इसमें सन्देह नहीं है। वह अमरता का वरदाता होता है। जो कि अज्ञान और असमर्थ वालकों को मातृ-भाव से उनके हित की वात कहते हैं, वे जो कुछ भूल कर रहे हों उसे हृदयग्राही मधुर शव्दो में उन्हें समझाकर उत्पथ मे न जाने देते हुए प्रेम पूर्वक सही रास्ते पर लाने की चेष्टा करता है। ऐसा करने में कोई व्यक्ति अपनी आदत के वश होकर आभार न मानते हुए प्रत्युत उसके साथ में विरोध दिखलाते हुए उसकी किसी प्रकार

की हानि भी करता है तो दयालु पुरुष उसे भी सहन करता है परन्तु उसे मार्ग पर लाने की ही सोचता है।

सुनते ही हैं कि इंग्लैंड में होमरलेन नाम का एक विद्वान था। वह जब भी किसी असहाय, दुःखी पुरुष को देखता था तो उसका दिल पिघल जाया करता था। कोई बालक किसी भी प्रकार की बुरी आदत में पड़ रहा हो तो उसे देखकर वह विचारने लगता कि इसकी तो सारी जिन्दगी ही बरबाद हो जायगी। किसी भी तरह से इसकी यह कुटेव दूर होकर इसका भविष्य उज्ज्वल होना चाहिये। बस इस विचार के वश होकर उसने एक रिपब्लिकन नाम का आश्रम खोला, जिसमें बुरी आदतों वाले बालक लाना और धीरे २ उनके जीवन को सुधारना ही उसका उद्देश्य था। एक दिन कोर्ट में एक ऐसा बालक पकड़ा गया जो कई बार चोरी कर चुका था। होमरलेन को जब पता लगा तो वह उसे वहाँ से अपने पास आश्रम में ले आया परन्तु उसने तो आते ही ऊधम मचाना शुरू कर दिया। वहाँ के लड़कों से लड़ने लगा और उनकी पुस्तकें फाड़ने लगा तो वहाँ के प्रबन्धक लोग घबराये और होमरलेन से बोले कि साहिब यह लड़का तो नटखट है, सारे बालकों को ही बिगाड़ देगा अतः इसे तो यहाँ रखना ठीक नहीं है, होमरलेन बोला भाई मुझे इस पर दया आती है अगर यह यहाँ आकर भी नहीं सुधरा तो फिर कहाँ सुधरेगा? इसका तो फिर सारा जीवन ही बरबाद हो जायेगा। खैर इसे तुम यहाँ नहीं रखते हो तो मुझे दो, मैं इसे अपने पास रखूंगा। ऐसा कहकर जब वह उसे घर लाया तो वहाँ पर भी उसका तो वही हाल। उनके कमरे की बहुमूल्य चीजों को भी वह

तो वैसे ही तोड़ने फोड़ने लगा। फिर भी होमरलेन ने विलकुल मन मैला नहीं किया, वल्कि हँसते हुये वोला, कि वेटा यह घड़ी और वची है इसे भी तोड़ डालो। वस यह सुनते ही उस लड़के के दिल में एकाएक परिवर्तन आ गया। वह सोचने लगा कि देखो मैंने इनका कितना नुकसान कर दिया, फिर भी मेरे प्रति इनके मन में कुछ भी मलाल नहीं आया, देखो ये कितने गम्भीर हृदयी हैं और मैं कितना तूफानी! ये भी आदमी हैं तथा कहने के लिये तो मैं भी एक आदमी ही हूँ मुझे कुछ तो सोचना चाहिये, ऐसा विचार अपने मन में करते हुये वह लड़का होमरलेन के पैरों में पड़ गया और अपने अपराध के लिये क्षमा याचना करने लगा, वोला कि वस मैं अव आगे किसी भी प्रकार की वदमाशी नहीं करूंगा। होमरलेन वड़ा खुश हुआ और कहने लगा कि कोई वात नहीं वल्कि मुझे तो इस वात की वड़ी प्रसन्नता है कि अव तुम समझ गये हो।

मतलव यही है कि जिसका दिल दया से भीगा हुआ होता है वह किसी से भी मुँह मोड़ना नहीं जानता। वह तो अपना सव कुछ खोकर भी दुखिया के दुःख को दूर करना चाहता है। क्योंकि उसका प्राणी मात्र के प्रति सहज स्वाभाविक प्रेम होता है, अतः वह तो सवको गुणवान देखना चाहता है एवं किसीभी गुणवान को जव वह देखता है तो उसका दिल प्रसन्नता से उमड़ उठता है, जैसा कि तत्वार्थसूत्र में है—मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानिच सत्वगुणाधिक क्लिश्यमाना विनयेषु।

(१४) जहाँ दया है वहाँ कोई दुर्गुण नहीं।

जिन बातों के होने से प्राणी, प्रजा का विप्लवकारी साबित हो ऐसी हिंसा, असत्यभाषण, चोरी, व्यभिचार, असन्तोष आदि को दुर्गुण समझना चाहिये। जहाँ दया होती है वहाँ पर इन दुर्गुणों का लेश मात्र भी नहीं होता परन्तु जहाँ इन में से कोई एक भी हो वहाँ पर फिर दया नहीं रह सकती है।

हमारे यहाँ एक कथा आती है कि एक राजा था उस के दो लड़के थे तो राजा के मरने पर बड़े लड़के को राजा और छोटे को युवराज बनाया गया। दोनों का समय परस्पर बड़े प्रेम से कटने लगा। परन्तु संयोगवश ऐसा हुआ कि एक रोज राजा ने युवराज्ञी को नजर भर देख लिया। युवराज्ञी युवती थी और बड़ी सुन्दर थी अतः उसे देखते ही राजा का विचार बदल गया। वह उस के साथ अपनी बुरी वासना को पूरी करने की सोचने लगा। अतः उसने युवराजको तो किसी सीमान्त दुष्ट राजा पर आक्रमण करने के लिये भेज दिया और युवराज्ञी को फुसलाने के लिये उसने अपनी दूती द्वारा पारितोषिक भेजा किन्तु वह राजी न हुई। राजा ने सोचा भाई को मार दिया जाए, फिर तो यह लाचार होकर अपने आप मेरा कहना करेगी। वसन्तोत्सव का षड्यन्त्र रचाया, सब लोग अपनी २ पत्नियों को लेकर बन विहार को गये। युवराज भी युवराज्ञी के साथ अपने बगीचे में पहुँच गया और सोचा कि आज की रात यहाँ हो आराम से काटी जावे। उसे क्या पता था कि रङ्ग में भङ्ग होने वाला है। राजा के मनचाही बात हुई, अतः वह घोड़े पर चढ़

कर युवराज के विश्राम स्थान की ओर रवाना हुआ। पहरा लग रहा था, पहरेदारों ने राजा को आगे बढ़ने से रोक कर युवराज को सूचना दी कि महाराज आप के पास आना चाहते हैं। युवराज बोले, आने दो। युवराज्ञी समझ गई और बोली प्रभो! आप क्या कर रहे हैं? होशियार रहिये, आपके भाई साहब का विचार मुझे आपके प्रति ठीक प्रतीत नहीं हो रहा है। युवराज ने उसके कहने पर भी ध्यान नहीं दिया। राजा साहब आये और उचित स्थान पर युवराज के पास बैठ गये, युवराज बोला भाई साहब! आज इस समय कैसे आना हो गया, ऐसा क्या काम आ पड़ा, आपने आने का कष्ट क्यों किया, मुझे सूचित कर देते तो मैं ही आपके पास आ सकता था। राजा बोला बताऊँगा परन्तु मुझे बड़ी जोर से प्यास लग रही है अतः पहले पानी पिलाओ। युवराज को क्या पता था कि इनके अन्तरंग में क्या है? वह तो एकान्त भ्रातृ स्नेह को लिये हुए था अतः बड़े भाई को पानी पिलाने के लिये गिलास उठाने को लपका कि पीछे से राजा ने उसकी गरदन पर कटार मार दिया, और उन्हीं पैरों उलटा लौट चला, सिपाहियों ने हल्ला मचा कर उसे पकड़ना चाहा, मगर युवराज्ञी ने सोचा कि स्वामी मरणासन्न हैं अगर हम लोग इसी धर पकड़ में लगे रहे तो सम्भव है कि स्वामी का अन्त समय बिगड़ जावे, अतः उसने सिपाहियों को ऐसा करने से रोका और अपने दिल को कड़ा करके समयोचित अन्तिम सन्देश-हे स्वामिन् इस संसार में अनादिकाल से जन्म-मरण करते रहने वाले इस शरीरधारी की अपनी भूल ही इसका शत्रु है और स्वयं सँभल कर चलना ही इसका मित्र है, बाकी के ये सब दुनियाँ के लोग तो

परिस्थिति के वश में होकर जो आज शत्रु हैं वे ही कल मित्र, और मित्र से फिर शत्रु होते दिखाई देते हैं। जो भाई साहब आपके लिये जान तक देने को हर समय ही तैयार रहते थे वे ही आज आपकी जान के ग्राहक बन गये, ऐसा होने में यदि विचार कर देखा जावे तो प्रधान निमित्त में ही हूँ, मेरे ही रूप के पीछे पागल होकर उन्होंने ऐसा किया है, अतः एक तरह से देखा जावे तो मैं ही आप की शत्रु हूँ, जिसको कि आप अपनी समझ रहे है। वस्तुतः कोई किसी का शत्रु या मित्र नहीं है। न कोई अपना है और न कोई पराया। सब लोग अपने २ कर्मों के प्रेरे हुये यहाँ से वहाँ चक्कर काट रहे है। कोई किसी का साथ देने वाला नहीं है, औरों की तो बात ही क्या, इस मनुष्य का शरीर भी यहाँ का यहीं रह जाता है, जब कि वह परलोकगमन की सोचता है। हाँ, उस समय यदि भगवान् का स्मरण करता है तो वह स्मरण अवश्य उसके साथ रहता है, एवं गड्ढे में गिरने से बचता है। अतः अब आप तो क्या अच्छे और क्या बुरे सभी प्रकार के संकल्पों को त्याग कर परमात्मा के स्मरण में मन को लगाइये, और इस नश्वर शरीर का प्रसन्नता पूर्वक त्याग कर जाइये। जैसे कि सर्प कांचली को छोड़ जाता है, इस प्रकार कह कर अन्तिम श्वास तक नमस्कार मन्त्र उसे सुनाती रही, उसने भी भगवान के चरणों में मन लगाकर इस पामर शरीर का परित्याग किया, एवं वह दिव्य देह धारी देव बना और उसी युवराज के रूप में पानी लेकर राजा के पास आया तथा बोला कि लो पानी पी लो चले क्यों आये, तुम तो प्यासे थे? परन्तु वस्तुतः तुम पानी के प्यासे न होकर जिस बात के प्यासे हो वह तुम्हारी प्यास, जो मार्ग तुमने

अपना रखा है उससे नहीं मिट सकती, देखो तुमने मेरे कटार मार दी थी, वह भी उस सती के सन्देश मन्त्र से ठीक हो गयी है। जिस महासती को लक्ष्य कर तुम बुरी वासना के शिकार बन रहे हो। अतः अब तुमको चाहिये कि तुम सन्तोष धारण करो, उस सती के चरण छूओ, एवं भगवान् का नाम जपो, बस इसी में तुम्हारा कल्याण है। इस पर होश में आकर राजा ने भी अपने दुष्कृत्य का पश्चाताप करके ठीक मार्ग स्वीकार किया।

मतलब यह है कि, दया के द्वारा ही मनुष्य माननीय बनता है। दया ही परम धर्म है जिस को अपनाकर यह शरीरधारी ऊपर को उठता है। परन्तु जो कोई भी दया को भूल जाता है या अहंकार के वश हो कर उसकी अवहेलना करता है वह जीव इस दुनियाँ में घृणा का पात्र बन जाता है जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं:—

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्राण॥

(१५) दया का सहयोगी विवेक।

हाँ यह बात भी याद रखने योग्य है कि दया के साथ में भी विवेक का पुट अवश्य चाहिये। दया होगी और विवेक न होगा प्रत्युत उसके ही स्थान पर मोह होगा तो वह उस विश्व सञ्जीविनी दया को भी संहारकारिणी बना डालेगा। मान लीजिये कि आपके बच्चे को कफ, खाँसी का रोग हो गया, आप उसको आराम कराना

चाहते हैं और वैद्य के पास से दवा भी दिला रहे हैं, मगर बच्चे को दही खाने का अभ्यास है, वह दही मांगता है, नहीं देते हैं तो रोता है, छटपटाता है, मानता नहीं है, तो आप उसे दही खाने को दे देंगे ? अपितु नहीं देंगे, क्योंकि दही खिला देने से उसका रोग बढ़ेगा यह आप जानते हैं। फिर भी आपको उस बच्चे के प्रति कहीं मोह आ गया तो सम्भव है कि आप उसे छटपटाता हुआ देखकर उपर्युक्त बात को भूल जावें तथा उसे दही खाने को दे देवें तो यह आपकी दया के बदले उस बच्चे के प्रति दुर्दया ही कही जावेगी, जो कि उसके स्वास्थ्य को बिगाड़ने वाली ही होगी।

रावण को मार कर श्री रामचन्द्रजी महाराज जब सीता महाराणी को वापिस लाये और घर में उसे रखने लगे, तो लोगों ने इस पर आपत्ति की। श्री रामचन्द्रजी यह जानते अवश्य थे कि सीता निर्दोष है इसमें कोई भी शक नहीं, फिर भी वनवास का आदेश दिया ताकि वन के अनेक संकट सह कर भी अन्त में उसे परीक्षोत्तीर्ण होना ही पड़ा। अगर श्री रामचन्द्रजी महाराज ऐसा न करते तो क्या आम लोगों के दिल में सीता महाराणी के लिये यह स्थान हो सकता था ? श्री रामचन्द्रजी की गौरव कथा जिस महत्ता से आज गाई जा रही है वह कभी भी सम्भव थी ? कि एक साधारण आदमी की आवाज पर श्री रामचन्द्रजी ने अपने प्राणों से प्यारी सीता का परित्याग कर दिया, ओह कितना ऊँचा स्वार्थ त्याग है परन्तु बात वहाँ ऐसी थी, श्री रामचन्द्रजी महापुरुष थे, उनकी निगाह में सभी प्राणी अपने समान थे। बस इसीलिए तो सब लोग आज भी उन्हें याद करते हैं।

(१६) अभिमान का दुष्परिणाम ।

कुछ भी न कर सकने वाला होकर भी अपने आपको करने वाला मानना अभिमान है । वस्तुतः मनुष्य कुछ नहीं कर सकता, जो कुछ होता है वह अपने २ कारण कलाप के द्वारा होता है । हाँ, संसार के कितने हीं कार्य ऐसे होते हैं जिनमें इतर कारणों के ही समान मनुष्य का भी उनमें हाथ होता है । एवं जिस कार्य में मनुष्य का हाथ होता है तो वह उसे अपनी विचार शक्ति के द्वारा प्रजा के लिये हानिकारक न होने देकर लाभप्रद बनाने की सोचता है, बस इसी लिये उसे उसका कर्ता कहा जाता है । फिर भी उस काम का होना, न होना या अन्यथा होना यह उसके वश की बात नहीं है । मान लीजिये कि एक किसान ने खेती का काम किया—जमीन को अच्छी तरह जोता, खाद भी अच्छी लगाई, बीज अच्छी तरह से बोया, सिंचाई ठीक तौर से की, और भी सब सार सम्भाल की और फसल अच्छी तरह पक कर तैयार हो गई। किन्तु एकाएक कुहरा पड़ा जिस से कि किया कराया सब कुछ बर्बाद । सारी खेती जलभुन कर मिट्टी में मिल जाती है । ऐसी हालत में अगर किसान यह कहे कि मैं ही खेती करने वाला हूँ, अन्न को उपजाता हूँ तो यह उसका अभिमान गलत विचार है । इस गलत विचार के पीछे स्वार्थ की बदबू रहती है यानी-जब कि मैं खेती करने वाला हूँ तो मैं ही उसका अधिकारी हूँ, भोक्ता हूँ; किसी दूसरे का इसपर क्या अधिकार है ? इस प्रकार का संकीर्ण भाव उसके हृदय में स्थान किये हुए रहता है । इस संकीर्ण भाव के कारण से ही प्रकृति भी उसका साथ देना छोड़कर

उसके विरुद्ध ही रहती है, ताकि जी तोड़ परिश्रम करने पर भी सफलता के बदले में प्रायः असफलता ही उसके हाथ लगा करती है। हाँ, जो निरभिमानी होता है, वह तो मानता है कि यह मेरा कर्तव्य है अतः मैं करता हूँ, मुझे करना भी चाहिये, इसका फल किसको कैसा, क्या होगा, इसकी उसे चिन्ता ही नहीं होती। एक समय की बात है कि किसी नगर का राजा घोड़े पर चढ़कर वायु सेवन के लिये रवाना हुआ, नगर के बाहर आया तो एक बूढ़ा माली अपने बगीचे में नूतन पेड़ लगा रहा था। यह देखकर राजा बोला कि बूढ़े तू जो ये पेड़ लगा रहा है सो कब जाकर खड़े होंगे ? क्या तू इनके फल खाने के लिये तब तक बैठा ही रहेगा ? बूढ़े ने उत्तर दिया कि प्रभो इसमें फल खाने की कौनसी बात है ? यह तो मेरा कर्तव्य है, अतः मैं कर रहा हूँ। मैंने भी तो बुजुर्गों के लगाये हुये पेड़ों के फल खाये हैं, अतः इन मेरे लगाये हुये पेड़ों के फल मेरे से आगे वाले लोग खावें यही तो प्रकृति की मांग है। इस पर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और पारितोषिक रूप में एक मुहर उसे देते हुये धन्यवाद दिया। मतलब यह कि कर्तव्यशील निरभिमानी आदमी जो कुछ करता है उसे कर्तव्य समझकर विवेकपूर्वक करता है, उसे फल की कुछ चिन्ता नहीं रहती। इसी उदारता को लेकर उसे उसमें सफलता भी आशातीत प्राप्त होती है।

श्री रामचन्द्रजी को पता लगा कि सीता रावण के घर पर है तो बोले कि चलो उसको लाने के लिये। इस पर सुग्रीव आदि ने कहा कि प्रभो ! रावण कोई साधारण आदमी नहीं है। उससे प्रतिद्वन्दिता करना आग में हाथ डालना है। श्री रामचन्द्रजी ने कहा,

कोई बात नहीं। परन्तु सीता को आपत्ति में पड़ी देखकर भी हम चुप बैठे रहें, यह कभी नहीं हो सकता है। हमें अपना कर्त्तव्य अवश्य पालन करना ही चाहिये। फिर होगा तो वही जो कि प्रकृति को मञ्जूर है। श्री रामचन्द्रजी की सहज सरलता के द्वारा उनके लिये सभी तरह का प्रक्रम अपने आप अनुकूल होता चला गया। उधर उनके विपक्ष में रावण यद्यपि वस्तुतः बहुत बलवान और शक्तिशाली भी था, परन्तु वह समझता था कि मुझे किसकी क्या परवाह है, मैं अपने भुजबल और बुद्धि कौशल से जैसा चाहूँ वैसा कर सकता हूँ। बस इसी घमण्ड की वजह से उसकी खुद की ही ताकत उसका नाश करने वाली बन गई। इस बात का पता हमें रामायण पढ़ने से लगता है। अतः मानना ही चाहिये कि अभिमान के बराबर और कोई दुर्गुण नहीं है, जिसके पीछे अन्धा होकर यह मनुष्य अपने आपको ही खो बैठता है।

(१७) परिस्थिति की विषमता।

किसी भी देश और प्रान्त में ही नहीं किन्तु प्रत्येक गांव तथा घर में भी आज तो प्रायः कलह, विसंवाद, ईर्षा, द्वेष आदि का आतङ्क छाया हुआ पाया जा रहा है। इधर से उधर चारों तरफ बुराइयों का वातावरण ही जोर पकड़ता जा रहा है, इसलिये मनुष्य अपने जीवन के चौराहे पर किंकर्त्तव्य विमूढ़ हुआ खड़ा है। वह किधर जावे और क्या करे? सभी तरफ से हिंसा की भीषण ज्वालायें आकर इसे भस्म कर देना चाहती हैं। असत्य के खारे पानी से सन कर इसका कलेजा पुराने कपड़े की तरह चीर चीर

होता हुआ दीख रहा है। लूट खसोट के विचार ने इसके लिये हिलने को भी जगह नहीं छोड़ी है। व्यभिचार की बदबू ने इसके नाक में दम कर रखा है। असन्तोष के जाल में तो यह बुरी तरह जकड़ा हुआ पड़ा है। घर में और बाहर में कहीं भी इसे शान्ति नहीं है। क्योंकि भौतिकता की चकाचौंध में आकर इसने अपना विश्वास गला डाला है। अपनी चपलता के वश में होकर यह किसी के लिये भी विश्वास का पात्र नहीं रहा है। और न इसे ही कोई ऐसा दीखता है जिसके कि भरोसे पर यह धैर्य धारण कर रह सके। साँप से सबको डर लगता है कि वह कहीं किसी को काट न खावे, तो सांप भी हर समय यों भयभीत बना ही रहता है कि कोई मुझे मार न डाले बस यही हाल आज मनुष्य का मनुष्य के साथ में हो रहा है। एक को दूसरा हड़प जाने वाला प्रतीत होता है। अतएव मनुष्य, मनुष्य के पास जाने में संकोच करता है। हाँ, किसी भी वृक्ष के पास वह खुशी से जा सकता है, क्योंकि उसे उस पर विश्वास है कि वह भूखे को खाने के लिये फल, परिश्रान्त को ठहरने के लिये छाया, शयन करना चाहने वालों को फूल पत्तों की सेज और टेक कर चलने आदि के लिये लकड़ियाँ देगा। वह मनुष्य की भाँति धोखे में डालने वाला नहीं है अपितु सहज रूप से ही परोपकारी है। बस इसी विचार को लेकर मनुष्य वृक्ष के पास जाने में संकोच नहीं करता। परन्तु मनुष्य, मनुष्य के पास न जाकर उससे दूर रहना चाहता है। क्योंकि वह सोचता है कि आज का मनुष्य दूसरे का बुरा करने का आदी बना हुआ है। उसके पास जाने पर मेरा बिगाड़ के सिवाय सुधार होने वाला नहीं है, मेरी कुछ

न कुछ हानि ही होगी अपितु कुछ लाभ होने वाला नहीं है। वस इसी लिये वह उससे दूर भागता है। परन्तु गाड़ी का एक पहिया जिस प्रकार दूसरे पहिये के सहयोग बिना खड़ा नहीं रह सकता उसी प्रकार दुनियाँदारी का मानव भी किसी दूसरे मानव के सहयोग से रहित होकर कैसे जीवित रह सकता है ? अतः मानव को अपना जीवन भी आज दूभर बना हुआ है।

(१८) स्वार्थपरता सर्वनाश की जड़ है।

ऊपर लिखा गया है कि मनुष्य का जीवन एक सहयोगी जीवन है। उसे अपने आपको उपयोगी साबित करने के लिये औरों का साथ अवश्यम्भावी है, जैसे कि धागा धागों के साथ में मिलकर चादर कहलाता है और मूल्यवान बनता है। अकेला धागा किसी गिनती में नहीं आता, वैसे ही मनुष्य भी अन्य मनुष्यों के साथ में अपना सम्बन्ध स्थापित करके शोभावान बनता है। यानी कि अपना व्यक्तित्व सुचारु करने के लिये मनुष्य को सामाजिकता की जरूरत होती है। अतः प्रत्येक मानव का कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने आपके लिये जितना सुभीता चाह रहा हो उससे भी कहीं अधिक सुभीता औरों के लिये देने और दिलवाने की चेष्टा करे। परन्तु आज हम देख रहे हैं कि आज के मानव की प्रगति इससे विलक्षण है। वह समाज में रहकर भी समाज की कोई परवाह नहीं करता है उसे तो सिर्फ अपने आपकी ही चिन्ता रहती है। भूख लगी कि रोटियों की तलाश में दौड़ता है, प्यास लगी तो पानी पीना चाहता है। जहाँ खाना खाया, पानी पीया और मस्त।

फिर लेट लगाने की सोचता है। क्या वह यह भी सोचता है कि कोई और भी भूखा होगा ? वल्कि आप खा चुका हो और रोटियाँ शेष वच रही हों एवं भूखा भिखारी सम्मुख में खड़ा होकर खाने के लिये मांग रहा हो तो भी उसे न देकर आप ही उन्हें शाम को खा लेने की सोचता है।

कहो भला ऐसी खुदगर्जी का भी कहीं कोई ठिकाना है ? जिसका कि शिकार आज का अधिकांश मानव है। अपनी दो रोटियों में से एक चौथाई रोटी भी किसी को देदूं सो तो बहुत ऊंची वात है प्रत्युत यह तो दूसरे के हक की रोटी को भी छीन कर हड़प जाना चाहता है। इसी खुदगर्जी की आग में आज का मानव स्वयं जलकर भस्म होता हुआ देखा जा रहा है।

एक समय की वात है कि एक साधु को मार्ग में गमन करते हुये चार वटेऊ मिले। साधु ने कहा भाइयों! इधर मत जाना। क्योंकि इधर थोड़ी दूर आगे जाकर वहाँ पर मौत है, किन्तु उसके कहने पर उन लोगों ने कोई ध्यान नहीं दिया। अपनी धुन में आगे को चल दिये। कुछ दूर जाकर देखा तो अशरफियों का ढेर पड़ा था, उसे देखकर वे वड़े खुश हुए, वोले कि उस साधु के कहने को मान कर हम लोग वहीं रुक जाते तो यह निधान कहाँ पाते ? इसीलिए तो हम कहते हैं कि इन साधुओं के कहने में कोई न आवे। खैर! अपने को चलते २ कई दिन हो गये हैं, भूख सता रही है, अत. इन में से एक अशरफी ले जाकर एक आदमी इस पास वाले गांव में से मिठाई ले आवे। उसे खाकर, फिर इन शेष

अशरफियों के बराबर चार हिस्से करके एक एक हिस्सा लेकर प्रसन्नतापूर्वक घर को चलेंगे।

अब जो मिठाई लेने गया उसने सोचा कि मैं तो यहीं पर खालूँ और अब शेष मिठाई में जहर मिला कर ले चलूँ ताकि इसे खाते ही सब मर जावें तथा सब अशरफियां मेरे ही लिये रह जावें। उधर उन लोगों ने विचार किया कि आते ही उसे मार डालना चाहिये ताकि इस धन के तीन हिस्से ही करने पड़ें। एवं जब वह आया तो उन तीनों ने उसके माथे पर लट्ठ जमाया, जिससे वह मर गया और उसकी लाई हुई मिठाई को खाकर वे तीनों भी मर गये। अशरफियां वहां की वहां ही पड़ी रह गईं।

बन्धुओं! यही हाल आज हम लोगों का हो रहा है। हम बांट कर खाना नहीं जानते, सिर्फ अपना ही मतलब गाँठना चाहते हैं। और इस खुदगर्जी के पीछे मगरूर होकर सन्तों, महन्तों की वाणी को भुला बैठते हैं। इसीलिये पद पद पर आपत्तियों का सामना करना पड़ रहा है।

(१९) श्रावक की सार्थकता।

श्रावक शब्द का सीधा सा अर्थ होता है, सुनने वाला। एवं सुनने वाले तो वे सभी प्राणी हैं जिनके कान हैं। अतः ऐसा करने से कोई ठीक मतलब नहीं निकलता। हम देखते हैं कि किसी भी पंचायत में या न्यायालय में कोई पुकारने वाला पुकारता है। उसकी पुकार पर ध्यान पूर्वक विचार करके यदि उसका समुचित

प्रबन्ध नहीं किया जाता है तो वह कह उठता है कि यहाँ पर किसको कौन सुनने वाला है ? कितना भी क्यों न पुकारो। मतलब उसका यह नहीं कि वहाँ सभी बहरे हैं, परन्तु सुनकर उसका ठीक उपयोग नहीं, पुकारने वाले की पीड़ा का योग्य रीति से प्रतिकार नहीं, बस इसीलिये कहा जाता है कि कोई सुनने वाला नहीं।

हमारे पूर्वजों ने भी उसीको श्रावक कह पुकारा है जो कि आर्ष वाक्यों को न्यायालय के नियमों के रूप में अटल मान कर श्रद्धा पूर्वक स्वीकार किये हुए हों, जिसका हृदय विचारपूर्ण भावना से ओत-प्रोत हो अतः किसी को भी कोई भी प्रकार की विपत्ति में पड़ा हुआ पाकर उसका वहाँ से उद्धार किये बिना जिसे कभी चैन नहीं हो एवं अपने तन, मन और धन के द्वारा सब तरह से समाज सेवा के लिये हर समय तैयार रहने वाला हो।

वह खुद अनीति-पथ में पैर रखे यह तो कभी सम्भव ही नहीं हो सकता, प्रत्युत वह औरों को भी कुमार्ग में जाते हुए देखता है तो आश्चर्य में डूबा रहता है कि यह ऐसा क्यों हो रहा है ? इस प्रकार मधुर और कोमल दिल वाला जो कोई हो जाता है वही श्रावक कहलाता है। भले ही वह परिस्थिति के वश होकर अपना कायिक सम्बन्ध कुछ लोगों के साथ में ही स्थापित किये हुए हो फिर भी अपनी मनोभावना से सब लोगों को ही नहीं अपितु प्राणीमात्र को अपना कुटुम्ब समझता है। अतः किसी का भी कोई बिगाड़ कर देना या हो जाना उसकी निगाह में बहुत बुरी बात होती है। हाँ, सन्मार्ग के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धावान होता है। अतः सन्मार्ग पर चलने वालों पर उसका विशेष अनुराग हुआ करता है। एवं वह हर

तरह से उनकी उपासना में निरत रहता है। इसलिए वह उपासक भी कहा जाता है।

(२०) उपासक का प्रशमभाव।

जैसा कि महात्माओं के मुँह से उसने सुना है, उसके अनुसार वह मानता है कि आत्मत्व के रूप में सभी जीव समान हैं। सबमें ज्ञानपना विद्यमान है। अव्यक्त रूप में सभी परमात्मत्व को लिए हुये हैं, प्रभुत्व शक्तियुक्त हैं। एवं किसी के भी साथ में विरोध, वैमनस्य करना परमात्मा के साथ में विरोध करना कहा जाता है। परमात्मा से विरोध करना सो अपने आपके साथ ही विरोध करना है। अतः किसी के भी साथ में बैर विरोध करने की भावना ही उसके मन में कभी जागृत ही नहीं होती। उसके हृदय में तो सम्पूर्ण प्राणियों की उपयोगिता को समझते हुए प्रेम के लिए स्थान होता है। बल्कि वह तो यह मानता है कि दुनियां का कोई भी पदार्थ अनुपयोगी नहीं है। यह बात दूसरी कि मनुष्य उससे अनभिज्ञ हो। अतः अपनी चपलता के वश मे होकर उसका दुरुपयोग कर रहा हो।

एक बार की बात है—राजा और रानी अपने महल में सुकोमल सेज पर विश्राम कर रहे थे। इतने में राजा की नजर एक मकड़े पर पड़ी जो कि वहां महल की छत में अपने सहज भाव से जाला तान रहा था। राजा को उसे देखकर गुस्सा आया कि देखो यह बेहूदा जन्तु मेरे साफ सुथरे महल को गन्दा बना रहा है। अत उसे मारने के लिये राजा ने तमंचा उठाया। परन्तु शीघ्रता के साथ उसका हाथ पकड़ कर रानी बोली, प्रभो। यह आप क्या कर रहे

हैं ? आप इसे बेकार समझ रहे हैं, फिर भी अपनी अपनी जगह सभी काम आने वाले है। समय पड़ने पर आपको इस बात का अनुभव होगा।

रानी के इस प्रकार मना करने पर राजा मान गया, किन्तु राजा के मन में यह शङ्का बनी ही रही कि यह भी कोई काम में आने वाला है ? अस्तु, दूसरे ही रोज राजा अपने मन्त्री आदि के साथ में घूमने को निकला तो पिछाड़ी से आकर एक कुत्ते ने राजा की जांघ में काट खाया। वैद्य से पूछा गया कि अब क्या करना चाहिये ? जवाब मिला कि यदि कहीं मकड़ी का जाला मिल जावे तो उसे लाकर इस घाव में भर दिया जावे। बस वही इसकी एक लाजबाब दवा है। यह सुन कर राजा को विश्वास हुआ कि रात वाला रानी साहिबा का कहना ठीक ही था।

मतलब यही कि अपनी २ जगह सभी मूल्यवान हैं। अतः समझदार आदमी फिर क्यों किसी के साथ में मात्सर्यभाव को लेकर उसका मूलोच्छेद करना चाहे ? क्योंकि न मालूम किसके बिना इसका कौनसा कार्य किस समय अटक रहे।

(२१) संवेगभाव।

महात्मा लोगों ने निर्णय कर बताया है कि शरीर भिन्न है तो शरीरी उससे भिन्न। शरीरी चेतन और अमूर्तिक है तो शरीर जड़ और मूर्तिक, पुद्गल परमाणुओं का पिंड, जिसको कि यह चेतन अपनी कार्य कुशलता दिखलाने के लिये धारण किये हुए है। जैसे

वढ़ई वसोला लिए हुए रहता है काठ छीलने के लिये, सो भोंठा हो जाने पर उसे पाषाण पर घिसकर तीक्ष्ण बनाता है और उस में लगा हुआ वैंता अगर जीर्ण-शीर्ण हो गया हो तो दूसरा बदल कर रखता है। वैसे ही उपासक भी अपने इस शरीर से भगवद्भजन और समाज सेवा सरीखे कार्य किया करता है। अतः समय पर समुचित भोजन तथा वस्त्रों द्वारा इसे सम्पोषण भी देता है। परन्तु उसका यह शरीर भगवद्भजन सरीखे पुनीततम कार्य में सहायक न होकर प्रत्युत उसके विरुद्ध पड़ता हो तो इसे वेकार समझ कर उपासक भी इससे उदासीन होकर रहता है।

राजा पुष्पपाल की लड़की मदनसुन्दरी जो कि आर्यिकाजी के पास पढ़ी थी। वह जब विवाह योग्य हुई तो पिता ने पूछा, बेटी कहो! तुम्हारा विवाह किस नवयुवक के साथ में किया जावे? लड़की ने कहा-हे भगवन्! यह भी कोई सवाल है? मैं इसके बारे में क्या कहूँ? आप जैसा भी उचित समझें उसी की सेवा में मुझे तो अर्पण करदें मेरे लिये तो वही सिर का सेहरा होगा। इस पर चिढ़कर राजा ने उसको विवाह श्रीपाल कोढ़िया के साथ में कर दिया। यह बात मन्त्री मुसाहिब आदि को बहुत बुरी लगी, अतः वे सब बोले कि प्रभो! ऐसा न कीजिये। परन्तु मदनसुन्दरी बोली कि आप लोग इस आदर्श कार्य में व्यर्थ ही क्यों रोड़ा अटका रहे हैं। पिताजी तो बहुत ही अच्छा कर रहे हैं जो कि इन महाशय की सेवा करने का मुझे अवसर प्रदान कर रहे हैं। वस्तुतः शरीर तो आप लोगों का और मेरा भी सभी का ऐसा ही है जैसा कि इन महाशय का है। सिर्फ हम लोगों को लुभाने के लिये हमारे शरीरों

पर चमड़ी लिपटी हुई है, किन्तु इनके शरीर की चमड़ी में छेद हो गये हैं ताकि भीतर की चीज बाहर में दीखने लग रही है और कोई अन्तर नहीं है। अतएव इनकी सेवा करके मुझे मेरा जन्म सफल कर लेने दीजिये। भगवान आपका भला करेंगे।

(२२) करुणा का स्रोत।

सज्जन के उदार हृदय सरोवर में करुणा का निर्मल स्रोत निरन्तर बहता रहता है। वह अपने ऊपर आई हुई आपत्ति को तो आपत्ति ही नहीं समझता, उसे तो हँसकर टाल देता है परन्तु वह जब किसी दूसरे को आपत्ति से घिरा हुआ देखता है तो उसे सहन नहीं कर सकता है। वह उसकी आपत्ति को अपने ही ऊपर आई हुई समझता है। अतः जब तक उसे दूर नहीं हटा देता तब तक उसे विश्राम कहाँ ? भाण्डों ने श्रीपाल को जब अपना भाई बेटा कह कर बतलाया तो गुणमाला के पिता ने रुष्ट होकर श्रीपाल के लिये सूली का हुक्म लगा दिया, तो वे सहर्ष सूली पर चढ़ने को तैयार हो गये। परन्तु जब सत्य बात खुल गई और राजा को पता चला कि भांडों ने धवल सेठ के बहकाने से झूठी बात बनाई है। तब फिर उसने अपने पूर्व आदेश को बदल कर उन भांडों के लिये कत्ल का हुक्म दिया, जिसे सुनकर श्रीपाल कुमार कॉप गये और बोले कि हे प्रभो! आप क्या कर रहे हैं ? जो कि इन बेचारों के लिये ऐसा कह रहे हैं ? इनका इसमें क्या अपराध हुआ है ? ये तो खुद ही गरीबी से दबे हुए हैं, ताकि गरीबी के बोझ को हल्का करने के लिये इन्होंने ऐसा करना स्वीकार कर रखा है। जो बेचारे आर्थिक

संकट के सताये हुये हैं, उन्हें प्रजा के स्वामी कहला कर भी आप और भी सतावें, मरे हुओं को मारें, यह तो मेरी समझ में घोर अन्याय है, प्रत्युत इसके, आपको तो चाहिये कि आप इन्हें कुछ पारितोषिक देकर सन्तुष्ट करिये ताकि आगे के लिए ये लोग इस धन्धे को छोड़कर उसके द्वारा अपना जीवन निर्वाह करने लगें। राजा ने ऐसा ही किया और इस असीम उपकार से भाण्ड लोग श्रीपालजी के सदा के लिए ऋणी बन गये।

(२३) आस्तिक्य भाव।

उपासक जानता है कि जो जैसा करता है वह वैसा ही पाता है। जहर खाता है, सो मरता है और जो मिश्री खाता है उसका मुंह मीठा होता है। सिंह जो कि लोगों को बर्बाद करने पर उतारू होता है तो वह खुद ही बर्बाद होकर जंगल के एक कोने में छिप कर रहता है। गाय जो कि दूध पिलाकर लोगों को आबाद करना चाहती है इसीलिये वह लोगों के द्वारा आबादी को प्राप्त होती है। लोग उसका बड़े प्यार के साथ में पालन-पोषण करते हुए पाए जाते हैं। हम देखते हैं कि जो औरों के लिये गड्ढा खोदता है वह स्वयं नीचे को जाता है किन्तु महल चिनने वाला विश्वकर्मा ऊपर को चढ़ता है। इससे हमें समझ लेना चाहिये कि जो दूसरों का बुरा सोचता है वह खुद बुरा बनता है, किन्तु जो दूसरों के भले के लिये प्रयत्न करता है वह भलाई पाता है। एक समयकी बात है-एक राज मन्त्री था वह वायु सेवनार्थ निकला तो एक जगह कुछ लड़के खेलते हुये मिले। उन सब में एक लड़का बहुत चतुर और बुद्धिमान तथा

सुलक्षण था। अतः उसे बुलाकर राजमंत्री अपने पास पुत्रभाव से रखने लगा। थोड़े दिनों के बाद प्रसंग पाकर राजा ने मन्त्री से पूछा कि बताओ इस दुनियाँ का रंग कैसा है और इस के साथ में मेरा कब तक, कैसा, क्या सम्बन्ध है ? जिसको सुनकर मंत्री घबराया, उसे इसका कुछ भी उत्तर नहीं सूझ पड़ा। परन्तु लड़का दौड़ा और एक पंचरंगे फूलों का गुलदस्ता लाकर उसने राजा के आगे रख दिया, एवं राजा के सर पर जो ताज था उसे लेकर झट ही उसने अपने सिर पर रख लिया। इस पर लोग हँसने लगे किन्तु राजा ने उन्हें समझाया कि लड़के ने बहुत ठीक कहा है कि जैसे इस गुलदस्ते में पांच रंग के फूल हैं वैसे ही यह दुनियां भी पांच परिवर्तन रूप पंचरंगी है और इस दुनियां के साथ में मेरा राजापने का सम्बन्ध जभी तक है जब तक कि यह ताज मेरे सिर पर है जिसके कि रहने या न रहने का पल भर का भी कोई भरोसा नहीं है। तुम लोग व्यर्थ ही ऐसे क्यों हँसते हो ? यह लड़का बड़ा बुद्धिमान है। मै मेरे मन्त्री का उत्तराधिकार इसे देता हूँ। जब तक ये मन्त्री जी हैं तब तक है, इनके बाद में यही मेरा मन्त्री होगा। ऐसा सुनते ही मन्त्री के दिल को बड़ी चोट पहुँची। वह सोचने लगा कि हाय, यह तो बहुत बुरा हुआ। यह मंत्री बनेगा तो फिर मेरा जायन्दा लड़का तो ऐसे ही रह गया, वह क्या करेगा ? क्या वह इसका पानी भरेगा ? अतः इसे अब मार डालना चाहिये। इस प्रकार विचार कर वह एक भड़भूंजे से मिला और बोला कि मैं अभी चने लेकर एक लड़के को भेजता हूँ सो तुम उसको भाड़ में झोंक देना। भड़भूंजा यह सुनकर यद्यपि कुछ सकोच में पड़ा

क्योंकि उस तरह से एक बेकसूर बच्चे को आग में झुलसा देना तो घोर निर्दयता है। परन्तु वह बेचारा भड़भूंजा था, और इधर मन्त्री का कहना था अगर उसका कहना न करे तो रहे कहाँ? मन्त्री ने जाकर उस लड़के से कहा कि आज मुझे भूंगड़े खाने की जी में आ गई, तुम जाओ और उस भड़भूंजे से यह चने भुँजवा लाओ। लड़का तो आज्ञाकारी था वह चने लेकर रवाना हुआ। उधर उस मन्त्री का जायन्दा लड़का मिल गया, वह बोला भैया तुम कहाँ जा रहे हो? पहला लड़का बोला-पिताजी ने चने दिये हैं सो भुँजवाने जा रहा हूँ। इस पर दूसरा लड़का बोला—तुम यहीं ठहरो, इन लड़कों के साथ में मेरी जगह गेंद खेलो, इन्हें मात दो। लाओ चने मैं भुँजवा लाता हूँ, ऐसा कह कर उसके हाथ से चने छीन कर दौड़ पड़ा और भड़भूंजे के पास गया तो जाते ही उसका काम तमाम हो गया।

बन्धुओं! व्यर्थ की ईर्षा के वश होकर मंत्री पराये लड़के को मारना चाहता था तो उसका खुद का प्राणों से प्यारा लड़का मारा गया। यही सोचकर उपासक पुरुष किसी भी दूसरे के लिये कुछ भी बुरा विचार कभी नहीं करता है। वृक्ष हो और उसकी छाया न हो तो उसका होना बेकार है। नदी में यदि जल न हो तो वह नदी भी सिर्फ नाम मात्र के लिये है। उसी प्रकार मनुष्य में अगर सच्चरित्रता नहीं तो उस मनुष्य का भी जीवन निःसार ही होता है। चरित्रहीन मानव का जीवन सुगंधहीन फूल जैसा है।

मकान का पाया बहुत गहरा हो, दीवारें चौड़ी और संगीन हों, रंग रोगन भी अच्छी तरह से किया हुआ हो और सभी बातें तथा रीति ठीक हो, परन्तु ऊपर में यदि छत नहीं हो तो सभी

बेकार। वैसे सदाचार के बिना मनुष्य में बलवीर्यादि सभी बातें होकर भी निकम्मी ही होती हैं। देखो रावण बहुत पराक्रमी था। उसके शारीरिक बल के आगे सभी कायल थे। फिर भी वह आज निन्दा का पात्र बना हुआ है। हम देख रहे हैं कि हर एक आदमी अपने लड़के का नाम राम तो बड़ी खुशी के साथ रख लेता है, किंतु रावण का नाम भी सुनना पसन्द नहीं करता, सो क्यों? इस पर सोच कर देखा जावे तो एक ही कारण प्रतीत होता है कि रावण के जीवन में दुराचार की बदबू ने घर कर लिया था। जिससे कि रामचन्द्रजी हजारों कोस दूर थे, किन्तु सदाचार को अपने हृदय का हार बनाये हुये थे। यही बात है कि सारी दुनियाँ आज श्रीरामचंद्रजी का नाम लेकर अपने को गौरवान्वित समझती है। हम भी यदि अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहते हैं तो हमें चाहिये कि हम भी अपने अन्तरङ्ग में सदाचार को स्थान दें।

(२४) सहानुभूति।

दृष्टिपथ में आने वाले शरीरधारियों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। (१) मनुष्य (२) पशु पक्षी। इनमें से पशु पक्षी वर्ग की अपेक्षा से आम तौर पर मनुष्यवर्ग अच्छा समझा जाता है, सो क्यों? उसमें कौनसा अच्छापन है? यही यहाँ देखना है। खाना पीना, नींद लेना, डरना, डराना और परिश्रम करना आदि बातें जैसी मनुष्य में हैं वैसी ही पशु पक्षियों में भी पाई जाती हैं। फिर ऐसी कौनसी बात है कि जिससे मनुष्य को पशु पक्षियों से अच्छा समझा जाता है?

बात यह है कि मनुष्य में सहानुभूति होती है, जिसका कि पशु-पक्षियों में अभाव होता है। पशु को जब भूख लगती है तो खाना चाहता है और खाना मिलने पर पेट भर खा लेता है। उसे अपने पेट भरने से काम रहता है और उसे अपने साथियों का कुछ फिकर नहीं होता। उसकी निगाह में उसका कोई साथी ही नहीं होता। जिसकी कि वह अपने विचार में कुछ भी अपेक्षा रक्खे। मनुष्य का स्वभाव इससे कुछ भिन्न प्रकार का होता है। वह अपनी तरह से अपने साथी की भी परवाह करना जानता है। यदि खाना मिलता है तो अपने साथी को खिलाकर खाना चाहता है। वस्त्र भी मिलता है तो साथी को पहनाकर फिर आप पहिनना ठीक समझता है। आप भले ही थोड़ी देर के लिये भूखा प्यासा रह सकता है परन्तु अपने साथी को भूखा प्यासा रखना या रहने देना इसके लिए अनहोनी बात है। बस इसी का नाम सहानुभूति है। जिसके बल पर मनुष्य सबका प्यारा और आदरणीय समझा जाता है। हाँ, यदि मनुष्य में सहानुभूति न हो तो फिर वह पशु से भी भयंकर बन जाता है। क्रूर से भी क्रूर सिंह भी प्रजा में इतना विप्लव नहीं मचा सकता जितना कि सहानुभूति से शून्य होने पर एक मनुष्य कर जाता है। सिंह तो क्रूरता में आकर दो चार प्राणियों का ही संहार करता है किन्तु मनुष्य जब सहानुभूति को त्याग कर एकांत स्वार्थी बन जाता है तो वह सैंकड़ों, हजारों आदमियों का संहार कर डालता है। कपट वचन के द्वारा लोगों को भ्रम में डालकर बरबाद कर देता है। लोगों को प्राणों से प्यारी जीवन निर्वाह योग्य सामग्री को भी लूट खसोट कर उन्हें दुःखी बनाता है। मनचलेपन

में आकर कुलीन महिलाओं पर बलात्कार करके उनके शीलरत्न का अपहरण करता है। भूतलभर पर होने वाले खाद्य पदार्थ वगैरह पर अपना ही अधिकार जमाकर सम्पूर्ण प्रजा को कष्ट में डाल देता है।

(२५) हिंसा का स्पष्टीकरण।

इस जीव को मारदूँ, पीटदूँ, या यह मर जावे, पिट जावे, दुःख पावे इस प्रकार के विचार का नाम भावहिंसा है और अपने इस विचार को कार्यान्वित करने के लिये किसी भी तरह की चेष्टा करना द्रव्यहिंसा है। भावहिंसा पूर्वक ही द्रव्यहिंसा होती है। बिना भावहिंसा के द्रव्यहिंसा नहीं होती और जहाँ भावहिंसा होती है वहाँ द्रव्यहिंसा यदि न भी हो तो वह हिंसक या हत्यारा हो रहता है। उदाहरण के लिये मान लीजिये कि एक शस्त्रचिकित्सक है डाक्टर है और वह किसी घाव वाले रोगी को नीरोग करने के लिये उसके घाव को चीरता है। घाव के चीरने में वह रोगी मर जाता है तो वहाँ डाक्टर हिंसक नहीं होता। परन्तु पारधी शिकार खेलने के विचार को लेकर जंगल में जाता है और वहाँ उसकी निगाह में कोई भी पशु पक्षी नहीं आता और लाचार होकर उसे यों ही अपने घर को लौटना पड़ता है, फिर भी वह हिंसक है, हत्यारा है। भले ही उसने किसी भी जीव को मारा नहीं है, फिर भी वह हिंसा से बचा हुआ नहीं है। क्योंकि प्राणियों को मारने के विचार को लिये हुये है। ऐसा हमारे महर्षियों का कहना है।

इसी को स्पष्ट समझने के लिये, हमारे यहाँ एक कथा है कि स्वयंभूरमण समुद्र में एक राघव मच्छ है, जो बहुत बड़ा है। वह

जितनी मछलियों को खाता है, खा लेता है, और पेट भर जाने के बाद भी मुंह में अनेक मछलियां जाती हैं और वापिस निकलती रहती हैं उन मछलियों को जीवित निकली देखकर उस मच्छ की आंखों पर एक तन्दुल मच्छ होता है। वह सोचता है कि यह मच्छ बड़ा मूर्ख है जो इन मछलियों को जीवित ही छोड़ देता है, और यदि मैं इस जैसा होता तो सबको हड़प जाता। बस इसी दुर्भाव की वजह से वह मरकर घोर नरक में जा पड़ता है।

(२६) कोई भी अपने विचारों से ही भला या बुरा बनता है।

"परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्य पापयोः प्राज्ञाः" ऐसा श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा गया है। अर्थात् मनुष्य जैसे अच्छे या बुरे विचार करता है वैसा स्वयं बन रहता है, यह निःसंदेह बात है। विचार मनुष्य का सूक्ष्म जीवन है तो कार्यकरण उसका स्थूल रूप। मनुष्य का मन एक समुद्र सरीखा है, जिसमें कि विचार की तरंगें निरंतर चलती रहती हैं। पूर्व क्षण में कोई एक विचार होता है तो उत्तर क्षण में कोई और दूसरा। जैसे किसी को देखते ही विचारता है कि मैं इसे मार डालूं परन्तु उत्तर क्षण में विचार सकता है कि अरे मैं इसे क्यों मारूं इसने मेरा क्या बिगाड़ किया है? यह अपने रास्ते है तो मैं अपने रास्ते, इत्यादि। हाँ, जबकि यह बुरा है, काला है, देखने में भद्दा है, मेरे सामने क्यों आया? यह मारा जाना चाहिये। ऐसी अनेक क्षणस्थायी एकसी विचारधारा

बनी रहती है, तब उसी के अनुसार बाह्य चेष्टा भी होने लगती है। आँखें लाल हो जाती हैं, शरीर कॉपने लगता है। वचन से कहता है इसे मारो, पकड़ो, भागने न पावे एवं स्वयं उसे मारने में प्रवृत्त होता है तो आम लोग कहने लगते हैं कि यह हिंसक है, हत्यारा है, इस बेचारे रास्ते चलते को मारने लग रहा है।

हॉ, यदि कहीं वही चित्त, कोमलता के सम्मुख हुआ तो उपर्युक्त विचारों के बदले में वहां इस प्रकार के विचार हो सकते हैं कि अहो देखो यह कैसा गरीब है, जिसके कि पास खाने को अन्न और पहनने को कपड़ा भी नहीं है। जिससे कि इसकी यह दयनीय दशा हो रही है। मैंने तो अभी खाया है, ये रोटियॉ बची हुई हैं इसे दे देता हूँ ताकि यह खाकर पानी पी ले। तथा मेरे पास अनेक धोती और कुरते हैं उनमें से एक-एक इसे दे दूं, सो पहन ले तो अच्छा ही है एवं मैंने तो नया खांचा बना ही लिया है। वह पुराना खांचा जो पड़ा है सो इसे दे दूं। पानी की बाढ़ आ जाने से सड़क पर गड्ढे पड़ गये हैं, जिससे आने जाने वालों को कष्ट होता देख कर सरकार की तरफ से उसकी मरम्मत का काम चालू है, जहॉ कि काम करने को मैं जाया करता हूँ वहॉ इसे भी ले चलूं, ताकि यह भी धन्धे पर लग जावे तो ठीक ही है। यद्यपि इन विचारों को कार्यान्वित करने में प्रासंगिक प्राणी वध होना सम्भव ही नहीं बल्कि अवश्यम्भावी है फिर भी ऐसा करने वाला हिंसक नहीं किन्तु दयालु है। क्योंकि वह अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा है। अपने से होने योग्य, एक गरीब भाई की मदद कर रहा है। उसके कष्ट को दूर करने में समुचित सहयोग दे रहा है। प्राणि वध तो

उसके ऐसा करने में होता है सो होता है वह क्या करे ? वह उसका उत्तरदायी नहीं है। मनुष्य अपने करने योग्य कार्य करे। उसमें भी जो जीव वध हो, उसके द्वारा भी यदि हिंसक माना जावे तब तो फिर कोई भी अहिंसक हो ही नहीं सकता। क्योंकि आहार निहार और विहार जैसी क्रिया तो जब तक छद्मस्थ अवस्था रहती है तब तक साधु महात्मा लोगों को भी करनी ही पड़ती है। जिसमें जीव वध हुए बिना नहीं रहता अतः यही मानना पड़ता है कि जहाँ जिसके विचार जीव मारने के हैं, वहीं वह हिंसक, हत्यारा या पापी है, किन्तु जिसके विचार किसी को मारने के नहीं हैं और उसके समुचित आवश्यक कार्य करने में कोई जीव यदि मर भी जाता है तो वह हिंसक नहीं है॥

(२७) अहिंसा की आवश्यकता।

जैसे पापों में सबसे मुख्य हिंसा है वैसे ही धर्माचरणों में सबसे पहला नम्बर अहिंसा का है। जिस किसी के दिल मे हिंसा से परहेज या अहिंसा भाव नहीं है तो समझ लेना चाहिये कि वहां सदाचार का नामोनिशान भी नहीं है। अहिंसा का सीधा सा अर्थ है, किसी भी प्राणी का वध नही करना। जीना सबको प्रिय है, मरना कोई नहीं चाहता। अतः अहिंसा कम से कम अपने आपके लिये सबको अभीष्ट है जो खुद अहिंसा को पसन्द करे परन्तु औरों के लिये हिंसामय प्रयोग करे उसे प्रकृति मजूर नही करती, रुष्ट हो रहती है। जिससे कि विप्लव मचता है जैसा कि प्रायः आजकल देखने में आ रहा है। आज का अधिकांश मानव स्वार्थ के वश

होकर दूसरों को बरबाद करने की ही सोचता रहता है। किसी ने तो टेलीफ़ोन का उद्घाटन करके हलकारे की रोजी पर कुठाराघात किया है तो कोई खरादि के पुतलों द्वारा लिखा पढ़ी का काम लेना बताकर क्लर्क लोगों की आजीविका का मूलोच्छेद करने जा रहा है। किसी ने कूकर-चूल्हा खड़ा करके अपने आप खाना बनाना बताकर पूंजीवादियों की पीठ ठोकते हुए, बिचारे खाना बनाने वाले रसोईदारों को बेक़ार बनाने पर कमर कस ली है। इसी प्रकार रोज एक से एक नई तजवीज खड़ी की जा रही है। जिनसे गरीबों के धन्धे छिनते जा रहे हैं और धनवान लोग फ़ैशनवाज, आराम-तलब एवं लापरवाह होते जा रहे हैं।

बन्धुओं! जरा आप ही सोचकर कहिये कि उपर्युक्त बातों का और फिर फल ही क्या होता है? किस लिये ऐसा किया जाता है या होता है? क्या काम करने वाले लोगों की कमी है? किन्तु नहीं। क्योंकि किसी प्रकार के काम करने वाले की बाबत आप आवश्यकता निकाल कर देखिये कि आपके पास एक नहीं बल्कि पचासों प्रार्थना-पत्र आ पहुँचेंगे कि आपके यहाँ अमुक कार्य करने मैं आ रहा हूँ, सिर्फ आपको आज्ञा आ जानी चाहिये इत्यादि। हाँ, यह जरूर कहा जा सकता है कि नये नये आविष्कारों को जन्म दिये बिना विज्ञान की तरक्की नहीं हो सकती, परन्तु वह विज्ञान भी किस काम का जो समाज को भूखों मारने का कारण बन कर घातक सिद्ध हो रहा हो। वह जङ्गली जीवन भी अच्छा जहाँ कि कम से कम और भी कुछ नहीं तो फल फूल तो खाने को मिल जावें तथा वृक्षों के पत्ते तन ढाँकने को मिल जावें। वह महलों का निवास

किस काम का जहां पर चकाचौंध में डालने वाले अनेक प्रकार के दृश्य होकर भी भूखे के लिये पानी नदारत हो बल्कि अपना खाना ले जाकर भी खाया जाता हो तो महल मैला हो जाने के भय से छीन कर फैंक दिया जावे। मेरी समझ में आज का विज्ञान भी ऐसा ही है जो हमें अनेक प्रकार की आश्चर्यकारी चीजें तो अवश्य देता है, परन्तु इसने आम जनता की रोटियाँ छीन ली हैं और छीनता ही जा रहा है। कहीं रॉकेट बनाकर उडाने में समय खोया जा रहा है तो कहीं अणुबम के परीक्षण में जनता के धन और जीवन को बरबाद किया जा रहा है। सुना है कि एक अणुबम को तैयार करने में सत्रह अरब रुपया खर्च होता है। जिसका कि निर्माण जन-संहार के लिये होता है। द्वितीय महायुद्ध के समय अमेरिका ने जापान पर अणुबम का प्रयोग किया था। जिसकी सताई हुई जनता आजतक भी नहीं पनप पाई है। अभी अभी परीक्षण के हेतु एक बम समुद्र में डाला गया जिससे ऋतु वैपरीत्य होकर कितनी बरबादी हो रही है, यह पाठकों के समक्ष में है।

मतलब यह है कि विज्ञान के साथ २ अगर अहिंसा की भावना भी बढ़ती रहे तब तो विज्ञान गुणकारी हो किन्तु आज तो परस्पर विद्वेषभाव अहंकार आदि की बढ़वारी होती जा रही है। अतः विज्ञान तरक्की पर होकर भी घातक होता जा रहा है।

(२८) अहिंसा के दो पहलू और उसकी सार्थकता।

किसी को नहीं मारना चाहिये या कष्ट नहीं देना यह अहिंसा का एक पहलू है तो दूसरा पहलू है कि किसी भी कष्ट में पड़े हुये के कष्ट को निवारण करने का यथाशक्य प्रयत्न करना ये दोनों ही बातें साधक में एक साथ होना चाहिये तभी वह अहिंसक बन सकता है। अधिकांश देखने में आता है कि आज की दुनियाँ के लोग कीड़ी-मकोड़े सरीखों को ही मारने में पाप समझते हैं सो तो ठीक ही है परन्तु किसके साथ में कैसा व्यवहार करना चाहिये मेरे इस बर्ताव से सामने वाला बन्धु निराकुल होने के बदले कहीं उल्टा कष्ट से तो नहीं घिर जायेगा इस बात का विचार बहुत कम होता है। इसी से हरेक देश, हरेक समाज, हरेक जाति और हरेक घर नरक जैसा बनता चला जा रहा है। प्रायः हरेक आदमी का यही रवैया हो लिया है कि दूसरे आदमी काम खूब करें और खाना बहुत कम खावें बल्कि न खावें तो और भी अच्छा है, किन्तु मुझे काम बहुत कम करना पड़े और खाने को मनचाहा खूब मिले। बस इसी हिंसामय दुर्विचार से ईर्षा और द्वेष की आग धधक रही है जिसमें सारा ही विश्व झुलसा जा रहा है। परस्पर प्रेम का भाव हम लोगों के दिल में से उठता जा रहा है जो कि प्रेम अहिंसा का संजीवन माना गया है। जब कि किसी के प्रति हार्दिक प्रेम भावना होती है तो अपने आप यह विचार आने लगता है कि इसे कहीं परिश्रम न करना पड़े। मैं ही मेरे अथक परिश्रम से कार्य को सम्पन्न करलूं और उसका फल हम दोनों मिलकर भोगें। इस

प्रकार प्रेम रूप अमृत स्रोत से ही अहिंसा रूप वल्लरी पल्लवित होती है।

(२६) पुराने समय की बात।

एक शाही घराना था। सेठ सेठानी प्रौढ़ अवस्था पर थे। जिन के पांच लड़के और सबसे छोटी लड़की थी। बड़े चारों लड़कों की शादियाँ होकर उनके वाल वच्चे भी हो गये थे। छोटे लड़के की भी शादी तो हो गई थी मगर वहू अभी अपने पिता के यहाँ ही थी, यहाँ घर पर एक कन्या, चार वहुयें और एक सास इस प्रकार छह औरतें थीं जो सब मिलजुल कर घर का कार्य चलाना चाहती तो अच्छी तरह से चला सकती थीं परन्तु परस्पर प्रेम का अभाव होने से तेरे मेरे में ही उनका अधिकांश समय वरवाद हो जाता था, एक सोचती थी कि मुझे काम कम करना पड़े और आराम विशेष मिले, तो दूसरी सोचती थी कि मैं ही काम क्यों करूं ? इस तरह से कलह का साम्राज्य हो गया था। इसी वीच में छोटी वहू मायके (पीहर) से आई जो कि एक शिक्षित घराने की लड़की थी। उसने वालकपन में अच्छी शिक्षा पाई थी, भले संस्कारों में पली थी। वह जब आई और घर का वातावरण दूषित देखा तो घबरा गई। वह क्या देखती है कि सास और जेठानियाँ विना कुछ वात पर आपस में लड़ रही हैं। यह देखकर वह रो पड़ी और मन ही मन सोचने लगी कि हे भगवान ! क्या मेरे भाग्य में यही सिनेमा देखने को वदा है ? मैं यहां किस तरह से अपनी जिन्दगी विता सकूँगी। यों रोते २ वह थक गई और वेहोश सी हो गई। आवाज आई कि उठ

सावधान हो, लोहे को कंचन बनाने के लिये पारस के समान तेरा समागम इस घर को सुधारने के लिये ही तो हुआ है।

(३०) अपनी भलाई ही है औरोंके सुधारने के लिये

उसने सोचा यहाँ पर मुख्य लड़ाई काम करने की है। इन्हें इनके विचारानुसार काम करने में कष्ट का अनुभव होता है, ये सब अपने को आलसी बनाये रखने में ही सुखी हुआ समझती हैं, यदि घर के धन्धों को मैं मेरे हाथ से करने लग जाऊँ तो अच्छा हो, मेरा शरीर भी चुस्त रहे और इन लोगों का आपस का झगड़ा भी मिट जाये, एक तीर्थ और दो काज वाली बात है। अब एक रोज जब कि सब जनीं भोजनपान के अनन्तर आकर एक जगह बैठीं तो सुशिक्षिता ने कहा कि सासूजी और जीजीबाइयों सुनो, मेरे रहते हुये आप लोग काम करो यह मेरे लिये शोभा की बात नहीं, अपितु मैं इसमें अपनी हानि और अपमान ही समझती हूँ। यहाँ कोई विशेष काम भी नहीं है और मेरा अभ्यास कुछ ऐसा ही है कि काम करने में ही मुझे आनन्द मालूम होता है। अतः कल से घर का रसोई, पानी का काम मैं ही कर लिया करूँ, ऐसी आज्ञा चाहती हूँ। इस पर बड़ी जेठानी बोली कि कँवराणीजी! अभी तो आपके खाने-पीने और विनोद कर बिताने के दिन हैं, फिर तो तुम्हें ही सब कुछ करना पड़ेगा, ताकि करते करते थक भी जाओगी। सुशिक्षिता नम्रता के साथ कहने लगी कि जीजी मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ मुझे निराश मत करो, मेरे तो यही काम करने के दिन हैं, अभी से करने लगूँगी तो कुछ दिनों में आप लोगों के शुभाशीर्वाद से आगे

को काम करने लायक रहूँगी। अन्यथा मैं तो आलसी बन रहूँगी, तो फिर भविष्य में कुछ भी न कर सकूँगी। यथाशक्ति घर का काम करना मेरा कर्तव्य है। अतः दया कीजिये और मुझ से काम लीजिये। हाँ, यह अवश्य हो कि मैं कहीं भूल जाऊँ तो बताते तथा होशियार अवश्य करते रहने की कृपा करें।

अब वह रोज सवेरे उठती और नहा धोकर भगवद्भजन करके भोजन बनाने में लग रहती थी। अनेक तरह का सरस, स्वादिष्ट भोजन थोड़ी सी देर में तैयार कर लेती और सबको भोजन करवा कर बाद में आप भोजन किया करती थी। यदि कभी कोई पाहुणा आ गया और असमय में भी भोजन बनाना पड़ा तो बड़े उत्साह के साथ वही भोजन बनाया करती थी।

यह देखकर सास ने एक दिन आश्चर्यपूर्वक पूछा कि बहू! तू ऐसा क्यों करती है? सब काम अकेली ही क्यों किया करती है? तब सुशिक्षिता बोली कि सासूजी! आप यह क्या कह रही हैं? काम करने से कोई दुबला थोड़े ही हो जाता है? काम करने से तो प्रत्युत शरीर स्वस्थ रहता है। यह तो मेरे घर का कार्य है, मुझे करना ही चाहिये। कोई भी अपना काम करे इसमें तो बुराई ही क्या है? मनुष्यता तो इसमें है कि अपने घर का काम सावधानता से निपटा कर फिर पड़ोसी के भी काम में हाथ बटाया जावे। यह शरीर तो एक रोज मिट्टी में मिल जावेगा। हो सके जहाँ तक इसको दूसरों की सेवा में लगा देना ही ठीक है।

सुशिक्षिता की जेठानियां भी यह सब बात सुन रही थीं

अत: वे सब सोचने लगीं कि देखो हम लोग कितनी भूल कर रही हैं। पड़ोसिन के कार्य में हाथ बटाना तो दूर किनार रहा हम लोग तो अपने घर के कार्यों को भी इसी के ऊपर छोड़कर वेखबर हो रही हैं। जैसा ही इस घर में होनेवाला कार्य इसका है, इससे पहिले हमारा भी तो है फिर हम लोगों को क्यों न करना चाहिये, जी क्यों चुराना चाहिये ? बस अब सभी अपना २ कार्य स्वयं करने लगी।

(३१) कोई किसी से जैसा कराना चाहे वैसा खुद करे।

सुशिक्षिता ने देखा कि अब मेरे जुम्मे कोई खास काम नहीं रहा है तो एक दिन वह चक्की तो घर में थी ही कुछ गेहूं लेकर पीसने बैठ गई। उसे ऐसा करते देखकर सास आई और बोली कि बहू आज यह क्या कर रही है ? क्या पवन चक्की दुनियां से उठ गई ? ताकि तू गेहूँ लेकर पीसने को बैठी है ? इस पर सुशिक्षिता बोली कि सासूजी आप या जेठानियाँ और तो कुछ करने नहीं देतीं, खुद करने लग गई हैं तो फिर मैं क्या करूं ? काम नहीं करने से शरीर आलसी बन जाता है, दिन भर निठल्ला बैठे रहने से मन में अनेक प्रकार के खोटे विचार आते हैं। पीसने से कसरत भी कुछ सहज ही बन जाती है ताकि शरीर और मन दोनों प्रसन्न हो रहते हैं। इसके अलावा पवनचक्की का आटा खाने से धार्मिक और आर्थिक हानि के साथ साथ शारीरिक स्वास्थ्य भी बिगड़ता है इसलिये मैंने ऐसा करना ठीक समझा है।

सुशिक्षिता को ऐसा करती हुई सुनकर जिठानियों को तमाशा सा लगा अतः एक एक करके वे सब भी उसके पास में आ खड़ी हुई और देखने लगीं। एक ने देखा कि यह तो बड़ी ही आसानी से चक्की को घुमा रही है एवं एक प्रकार का आनन्द का अनुभव कर रही है जरा मैं भी इसे घुमा कर क्यों न देखूं ? ऐसे मन से उसके साथ आटा पीसने को बैठी और थोड़ी देर बाद बोली कि ओह, यह तो बहुत अच्छी बात है। यद्यपि थोड़ा परिश्रम तो इसमें होता है, सो तो हिंडोले पर हींडने मे भी होता है, जो कि मनोविनोद के लिये किया जाता है। इसमें तो विनोद का विनोद और काम का काम तथा शरीर बिल्कुल फूल जैसा ही हलका बन जाता है। मैं भी रोजमर्रा थोड़ा बहुत पीसा करूंगी। फिर क्या था, फिर तो क्रम क्रम से सभी पीसने लगीं।

"सुशिक्षिता ने फिर फुरसत पाई कि हाथ में बुहारी लेकर घर का कूड़ा कचरा साफ किया और फिर घड़ा लेकर कूएं पर पानी भरने को जाने लगी तो सासू ने प्रेम से कहा बेटी यह क्या करती है ? घर पर तो नौकर बहुत हैं, उनसे काम कराओ। जवाब में सुशिक्षिता ने कहा माताजी ! कोई व्यक्ति आप बैठा रहकर नौकरों से काम ले, मैं इसे अच्छा नहीं समझती क्योंकि क्या उसके खुद के हाथ पैर नहीं हैं ? अगर हैं तो ऐसा क्यों होना चाहिये ? ऐसा करना तो मेरी समझ में उन नौकरों के साथ में दुर्व्यवहार करना है, नौकर भी तो, समझदार के लिये उसके भाई-बन्धुस्थानीय ही होते हैं। उन्हें तो इसलिये रक्खा जाता है कि समय पर मनुष्य से खुद से

में पूरा न किया जा सकता हो या जिस २ काम को वह नहीं कर
नती हो वह काम प्रेम-पूर्वक उनसे लेता रहे। कार्य करने से
नुष्य की प्रतिष्ठा कम नहीं होती प्रत्युत बढ़ती है। प्रतिष्ठा के कम
ने का तो कारण है तो स्वार्थ-परायणता या विलासिता। सुशि-
क्षिता की ऐसी ज्ञान भरी बात सुन कर सेठानी को बड़ी प्रसन्नता
ई। वह मन में सोचने लगी कि अहो देखो इसके कितने ऊंचे
विचार हैं, यह साक्षात भलाई की मूर्ति ही प्रतीत होती है जिस
की वजह से आज मेरे इस घर में शांति का साम्राज्य हो गया
है जहाँ पर कि इससे पूर्व में कलह का आतंक छाया हुआ था। अब
एक रोज सेठानी ने बाजार से मंगवाकर सब बहुओं को उनके साल
भर के खर्च के योग्य छः २ जोड़ा साड़ियों के दिये तो सुशिक्षिता
अपने उन जोड़ों में से एक जोड़ा लेकर, हे जीजी मेरे पास पहले
ही से बहुत सी साड़ियां मेरी पेटी में धरी रखी हैं काम में नहीं
आतीं तो मैं अब इनका क्या करूंगी ? अतः यह एक साड़ी जोड़ा
आप ही ग्रहण करें, ऐसा कहते हुए बड़ी जेठानी को भेंट किया एवं
एक एक जोड़ा और जेठानियों को दिया तथा ननद को भी एक
जोड़ा दे दिया जिससे वे सब बड़ी प्रसन्न हुईं।

इधर सेठानी को यह बात मालुम हुई तो उसने पूछा कि
बहू यह क्या किया ? तो सुशिक्षिता बोली कि सासूजी आप ही
देखती हैं कि मैं तो मेरे हाथ के कते हुए सूत से खुद ही बुनकर
तैयार कर लेती हूँ, उस साड़ी को पहनती हूँ। जो कि साल भर में
दो साड़ियाँ ही मेरे लिये पर्याप्त होतीं है किन्तु मैं साल भर में छः
सात साड़ियां तैयार कर लेती हूँ जो कि मेरे पास सन्दूक में भरी

रक्खी हैं। मैं तो उनमें से भी इनको देना चाहती हूँ, परन्तु ये जीजी बाइयाँ भले घरानों की हैं। इन्हें ये साड़ियाँ पसन्द नहीं आती। आज आपने ये बेशकीमती साड़ियां मंगवाकर हम सबको पारितोषिक रूप में दी तो आपका हाथ पाछा गिराना तो मैंने उचित नहीं समझा किंतु मैं व्यर्थ ही इनका संग्रह करके क्या करती? अतः एक एक जोड़ा मैंने इनको दे दिया। अब यह एक जोड़ा और शेष है इसको भी अगर आप अपने लिये रख लें तो बहुत अच्छा हो। आपके काम में आ जावेगा, वरना मेरे पास तो व्यर्थ ही पड़ा रहेगा। मैं तो मेरी हाथ की बुनी हुई साड़ियों मे से भी कभी किसी नौकरानी को तो कभी किसी गरीब बहिन को दे दिया करती हूँ। संग्रहवृत्ति, या फैशनबाजी को मैं मेरे लिये अच्छा नहीं समझती। वस्त्रादि चीजों को संग्रह कर रखने में मन उन्हीं वस्तुओं में चिपका रहता है। मोह उत्पन्न होता है। जो बहिनें नित्य नई पोशाकें बदलना जानती हैं वे सब अपने पतिदेवों को व्यर्थ की परेशानी में डालने का काम करती हैं। क्योंकि अन्याय अनर्थ का न होता कार्य करके भी धन कमा लाकर उनकी हविस पूरी करने की ही चिन्ता रहती है। जो कि एक बड़ी भारी हिंसा है जिसका उत्तरदायित्व उन मेरी फैशनबाज बहनों के जुम्मे होता है, जिन्हें कि शोभा का प्रलोभन होता है। परन्तु उन्हें सोचना चाहिये कि शोभा तो गहनों और कपड़ों से न होकर समुचित निःस्वार्थ सेवा और परोपकार आदि सद्गुणों द्वारा होगी। इस प्रकार सुनकर सेठानी ने कहा कि बहू तेरा कहना बहुत ठीक है, आज से मैं तो

यह प्रतिज्ञा करती हूँ कि तेरे हाथ के बने हुए कपड़ों को ही पहिना करूंगी एवं सादगी से अपना जीवन बिताऊँगी।

(३२) अहिंसा अव्यवहार्य नहीं है।

किसी को भी मारना हिंसा है, न कि मरना। क्योंकि मरना तो कभी न कभी शरीरधारी को पड़ता ही है। हाँ अपने आप जान-बूझ कर, पर्वत से पड़कर, कूप में पड़कर, तलवार खाकर या विष भक्षण कर मरना वह मरना नहीं है, किन्तु अपने आपको मारना है। जैसे दूसरों को मारना हिसा है वैसे ही अपने आपको मारना भी हिंसा ही नहीं बल्कि घोर हिंसा है। जिसको आत्मघात बताकर महर्षियों ने उसकी घोर निन्दा की है और जबकि मारने का नाम हिंसा है तो फिर हिसा किये बिना निर्वाह नहीं हो सकता यह विश्वास झूठा है। क्या किसी को मारे बिना किसी का काम नहीं बन सकता ? नहीं, ऐसी बात नहीं है। हॉ, कोई बहुत या थोड़ी हिंसा करता है तो कोई हिंसा किये बिना भी रह सकता है। बल्कि अहिंसा के बिना किसी का भी गुजर नहीं हो सकता। एक बड़े से बड़ा पारधी जिसने प्राणियों को मारना ही अपना काम समझ रखा है वह भी कम से कम, अपनी उसकी पक्ष करने वाले को तो नहीं मारता है। अतः यह तो मानना ही होगा कि अहिसा सभी की उपास्य देवता है।

हाँ, यह कहा जा सकता है कि अपने शरीर का निर्वाह अपने आप करने वाला आदमी भले ही मांस न खावे और खून या शराब पिये बिना रह जावे परन्तु शाक सब्जी तो उसे खानी ही होगी

और प्यास बुझाने के लिये स्वच्छ पानी भी पीना ही होगा। बस इसी लिये हमारे दिव्य ज्ञानी महर्षियों ने बतलाया है कि कौटुम्बिक जीवन वाले लोगों को स्थावर हिंसा करना आवश्यक है, उसके बिना उनका निर्वाह नहीं हो सकता किन्तु त्रस हिंसा तो उनको कभी भी नहीं करना चाहिये।

(३३) अहिंसा में अपवाद।

पीछे बताया गया है कि त्रसों की हिंसा कभी नहीं करना चाहिये, फिर भी साधक के सम्मुख ऐसी विषम परिस्थिति कभी कभी आ उपस्थित होती है कि वह उसे हिंसा करने के लिये बाध्य करती है। मान लीजिये कि आप यात्रा को जा रहे हैं। एक कुलीन बहिन भी आपके भरोसे पर आपके साथ चल रही है। रास्ते में कोई लुटेरा आकर उस पर बलात्कार करना चाहता है। क्या आप उसे ऐसा करने देंगे? कभी नहीं। जहाँ तक हो सकेगा उसका हाथ भी उस बहन के नहीं लगने देने के लिये आप डट कर उस डाकू का मुकाबला करेंगे और उसे मार लगावेंगे।

एक जच्चा है जिसके बच्चा होने वाला है। बहुत देर हो गई वह परेशान हो रही है। बच्चा और किसी भी उपाय से बाहर नहीं आता है तो फिर डाक्टर उस बच्चे को खण्ड खण्ड करके बाहर निकालता है। क्या करे लाचार है। बच्चे को मार कर भी जच्चा को बचाता है।

अपने जीवन में ऐसे और भी अनेकानेक प्रसंग उपस्थित होते हैं जहां पर गृहस्थ को अपने अभीष्ट को बचाये रखने के लिये

तद्विरोधी अनिष्ट को परिहार करना ही पड़ता है। इस पर आज हमें ऐतिहासिक घटना का स्मरण हो आता है। विश्वशांति के अग्रदूत श्री वर्द्धमान स्वामी नामकी पुस्तक जो कि श्री दिगम्बर दास जैन मुख्त्यार सहारनपुर की लिखी हुई है, उसके तीसरे भाग में पृष्ठ ४२६ में लेखक लिखता है :—

(३४) जैन वीरों की देशभक्ति।

मुसलमानों ने गुजरात पर आक्रमण कर दिया। वहाँ के सेनापति आबू व्रती श्रावक थे। जोकि नित्य नियम पूर्वक प्रतिक्रमण किया करते थे। शत्रुओं से लड़ते २ उनके प्रतिक्रमण का समय हो गया जिसके लिये उन्होंने एकान्त स्थान पर जाना चाहा, परन्तु मुसलमानों की जबरदस्त सेना के सामने अपनी मुट्ठी भर फौज के पाँव उखड़ते देखकर राष्ट्रीय सेवा के कारण रणभूमि को छोड़ना उचित न जाना और दोनों हाथों में तलवार लिये हौदे पर बैठे हुए बोलने लगे—जे मे जीवा विराहिया एगिन्दिया वा वे इन्दिया वा इत्यादि जिसको सुनकर सेना के सरदार चौंक उठे कि देखो ये रणभूमि में भी जहाँ कि तलवारों की खनाखन और मारो २ के भयानक शब्दों के सिवाय कुछ सुनाई नहीं देता, वहाँ एकेन्द्रिय दो इन्द्रिय जीवों तक से क्षमा चाह रहे हैं, ये नरम नरम हलवा खाने वाले जैनी क्या वीरता दिखा सकते हैं। प्रतिक्रमण का समय समाप्त होने पर सेनापति ने शत्रुओं के सरदार को ललकारा कि ओ! इधर आ, हाथ में तलवार ले, खांडा सँभाल। अपनी वीरता दिखा, होश कर मन की निकाल। धर्म का पालन किया हो तो

धर्म की शक्ति दिखा वरना जान बचाकर फौरन यहां से भाग जा। इस पर शत्रुओं का सरदार उत्तर भी देने न पाया था कि जैन सेनापति आबू ने इस वीरता और योग्यता से हमला किया कि शत्रुओं के छक्के छूट गये और मुसलमान सेनापति को मैदान छोड़ कर भागना पड़ा। फिर क्या था? गुजरात का बच्चा २ आबू की वीरता के गीत गाने लगा। उसको अभिनन्दन पत्र देते हुये रानी ने हँसी में कहा कि सेनापति! जब युद्ध में एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय जीवों तक से क्षमा मांग रहे थे तो हमारी फौज घबरा उठी थी कि एकेन्द्रिय जीव से क्षमा मांगने वाला पंचेन्द्रिय मनुष्य को युद्ध में कैसे मार सकेगा? इसपर व्रतीश्रावक आबू ने उत्तर दिया कि महारानीजी! मेरे अहिंसा व्रत का सम्बन्ध मेरी आत्मा के साथ है। एकेन्द्रिय दो इन्द्रिय जीवों तक को बाधा न पहुँचाने का जो नियम मैने ले रखा है वह मेरे व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा से है। देश की सेवा अथवा राज्य की आज्ञा के लिये यदि मुझे युद्ध अथवा हिंसा करनी पड़े तो ऐसा करने में मैं मेरा धर्म समझता हूँ क्यों कि मेरा यह शरीर राष्ट्रीय सम्पत्ति है। इसका उपयोग राष्ट्र की आज्ञा और आवश्यकता के अनुसार ही होना उचित है परन्तु आत्मा और मन मेरी निजी सम्पत्ति है। इन दोनों को हिंसा भाव से अलग रखना मेरे अहिंसा व्रत का लक्षण है। ठीक ही है, ऐसा किये विना गृहस्थों का निर्वाह नहीं हो सकता। गृहस्थ ही क्या, कभी २ तो साधु महात्माओं तक को भी ऐसा करने के लिये बाध्य होना पड़ता है।

पद्मपुराण में एक जगह वर्णन आता है कि रावण पुष्पक विमान में बैठकर आकाश मार्ग से कहीं जा रहा था तो रास्ते में

कैलाश पर्वत पर आकर उसका विमान रुक गया। मेरे विमान को किसने रोक लिया, इस विचार से वह इधर उधर देखने लगा तो नीचे पर्वत पर बाली मुनि को तपस्या करते हुए पाया और विचार किया कि इन्हीं ने मेरे विमान को रोका है। अतः रोष में आकर सोचने लगा कि मैं मेरे इस अपमान का इनसे बदला लूंगा, पर्वत सहित इनको उठाकर समुद्र में डाल दूंगा और जब वह अपने इस विचार को कार्यरूप में परिणत करने के लिये पहाड़ के मूल भाग में पहुँच गया तो महर्षि ने सोचा कि कहीं यदि यह सफल हो गया तो बड़ा अनर्थ हो जावेगा। भरत-चक्रवर्ती के बनाये हुए बहुमूल्य और ऐतिहासिक जिनायतन भी नष्ट हो जावेंगे तथा पर्वत में निवास करने वाले पशु पक्षी भी मारे जावेंगे। उन्होंने अपने पैर के अंगूठे से जरा दबा दिया तब रावण दब कर रोने लगा। तब मन्दोदरी ने आकर महर्षि से अपने पति की भिक्षा मांगी तो महर्षि ने पैर को ढीला किया।

(३५) जैन कौन होता है?

पक्षपातं जयतीति जिनः जिन एव जैन। अर्थात् कोई भी महाशय यह तेरा है और यह मेरा, यह अच्छा है और यह बुरा। इस प्रकार के विच्छिन्न भावों को अपने मन में से निकाल बाहर कर देता है एवं जो सदा सब तरफ सबके साथ एक सी माध्यमिक व्यापक दृष्टि से देखने लगता है वह जैन कहलाता है। यह दुनियाँदारी का पामर प्राणी अनायास ही अपने शरीर और इन्द्रियों के सम्पोषण रूप स्वार्थ में संलग्न पाया जाता है जो कि शरीर नश्वर है तथापि

आत्मा, अविनश्वर, किन्तु इसकी विचारधारा इस ओर नहीं जाती। यह तो अपनी मोटी बुद्धि से इस चलते फिरते शरीर को ही आत्मा समझे हुये है। अतः इसे बिगड़ने न देकर चिरस्थायी बनाये रखने की सोचता है, एवं इसके इस काम में जो सहायता देने वाले हैं उन्हें अपने और अच्छे, मानकर अपनाता है। किन्तु इससे विरुद्ध को पराये और बुरे समझकर उन्हें बरबाद करने में तत्पर है एवं संघर्ष का जन्मदाता बना हुआ है; शान्ति से दूर है।

हाँ, मनुष्य अगर अपनी प्रज्ञा से काम ले तो इसकी समझ में आ सकता है कि शरीर और आत्मा भिन्न २ चीजें हैं, शरीर जड़ और नाशवान है तो मेरी आत्मा चैतन्य की धारक शाश्वत रहने वाली। एवं जैसी मेरी आत्मा है वैसी हो इन इतर शरीरधारियों की भी आत्मायें हैं, ऐसे विचार को लेकर फिर वह जिसमें किसी भी प्राणी को कष्ट हो ऐसी चेष्टा न करके ऐसी प्रक्रिया करता है जिसमें कि प्राणी मात्र का हित सन्निहित हो। यानी जो स्वार्थ से दूर रहकर पूर्णतया परमार्थ की सड़क पर आ जाता है वही जैन कहलाता है, एवं इस प्रकार जैन बनने का हरेक मनुष्य को अधिकार है यदि वह उपर्युक्त रूप से आत्म साधना को स्वीकार करले। बस ऐसा जिसका विश्वास हो वह जैन होता है जो कि अहिंसा में रुचि रखने वाला होता है, हिंसा से परहेज करता है।

(३६) अहिंसक के लिये विरोध का क्षेत्र।

जो अहिंसक होता है वह स्वयं तो वीर बहादुर होता है। उसे किसी से भी किसी प्रकार का डर नहीं होता। परन्तु उसने जिन

बुजदिलों या बाल वृद्ध आदि लोगों की सँभाल रखने का संकल्प ले रक्खा है; उन लोगों पर यदि कोई मनचला आदमी अनुचित आक्रमण करके गड़बड़ी मचाना चाहता है तो उसे सहन कर लेना उसके आत्मत्व से बाहर की बात हो जाती है। अतः वह उसे उस गड़बड़ी करने से रोकता है, कहता सुनता है। यदि कहने सुनने से मान जावे जब तो ठीक ही है और नहीं तो फिर बल प्रयोग द्वारा भी उसका उसे प्रतिवाद करना पड़ता है। इसी का नाम विरोध है जो कि एक अहिंसक का कर्तव्य माना गया है। क्योंकि ऐसा न करने से अपने आश्रितों की रक्षा करने का और दूसरा कोई चारा नहीं होता।

इस विरोध करने में आक्रमणकारी का कुछ न कुछ बिगाड़ अवश्य होता है जिसको कि लेकर विरोधक को हिंसक ठहराया जाया करता है। परन्तु वहाँ पर जितना भी बिगाड़ होता है उसका उत्तरदायी तो वह आक्रामक ही है। विरोधक तो अपने उन लोगों की रक्षा करने का प्रयत्न करता है, जिनकी रक्षा करने का उसने प्रण ले रक्खा है एवं समर्थ है।

(३७) राम और रावण।

ये दोनों ही यद्यपि महाकुलोत्पन्न थे। महा शक्तिशाली थे। अनेक प्रकार के हथियारों को धारण करने वाले थे। फिर भी दोनों के कर्तव्य कार्य में बड़ा भारी अन्तर था। राम की शक्ति और उनके हथियारों का प्रयोग सदा परमार्थ, परोपकार के लिये हुआ करता था। किन्तु रावण की सारी चेष्टायें स्वार्थ भरी थीं क्योंकि

राम सुपथगामी के साथी दृढ़मना महापुरुष थे। किन्तु रावण दुरभिलाषी था, मनचलेपन को लिये हुये था। श्री रामचन्द्रजी की शक्ति और हथियारों का प्रयोग सदा विश्वकल्याण के लिये हुआ करता था। किन्तु रावण की सभी क्रियायें औरों की तो बात ही क्या अपने कुटुम्ब के लोगों के भी विरुद्ध उनको कष्ट देने वाली होकर सिर्फ उनकी स्वार्थान्धता को ही पनपाने वाली थी, इसमें अगर कोई कारण था तो एक उसका मनचलापन ही था।

(३८) कुलक्रम निश्चित नहीं है।

कश्यपु के प्रह्लाद हो, अग्रसेन के कंश।
फिर कोई कैसे कहै, किसका कैसा वंश॥

चिरन्तन काल से चली आई हुई इस मनुष्य परम्परा में कोई आदमी सरल स्वभाव का होता है, किन्तु उसका लड़का बिलकुल वक्र स्वभाव वाला दीख पड़ता है। और अज्ञानी बाप का लड़का अतिशय तीक्ष्ण बुद्धि वाला पाया जाता है। हिरण्यकश्यपु एकान्त नास्तिक विचार वाला था किन्तु उसी का लड़का प्रह्लाद परम आस्तिक था। एवं महाराज उग्रसेन जो कि परम क्षत्रिय थे, प्रजा वत्सल थे उनका लड़का कंस उनके बिल्कुल विपरीत उग्र स्वभाव का, घातक, प्रजा को निष्कारण ही कष्ट देने वाला हुआ। ऐसी हालत में कौन आदमी कैसे माँ बाप का लड़का है इसका निर्णय कैसे किया जा सकता है? यद्यपि मूंगों से मूंग ही पैदा होते हैं, फिर भी उन्हीं में कोई २ घोरडू भी पैदा होता है जो कि न तो सीझता ही है और न भीजता ही। जिस खदान में पत्थर निकलते

हैं उसी में कहीं कभी हीरा भी निकल आता है। यही कुलक्रम का हाल है।

(३९) एक भील का अटल संकल्प।

महाभारत में एक जगह आया है कि वाण-विद्या की कुशलता के वारे में द्रोणाचार्य की प्रसिद्धि सुनकर एक भील उनके पास आया और बोला कि प्रभो मुझको वाण विद्या सिखा देवें। द्रोणाचार्य ने जवाव दिया कि मैं अपनी विद्या क्षत्रिय को ही सिखाया करता हूँ यह मेरा प्रण है। अतः मैं तुझे सिखाने के लिये लाचार हूँ। इस पर भील ने कहा प्रभो। मेरा भी यह दृढ़ संकल्प है कि मैं आप से ही विद्या सीखूँगा ऐसा वोलकर चला गया और द्रोणाचार्य की मूर्ति वनाकर उसके आगे बाण चलाना सीखने लगा। कुछ दिन में वह अर्जुन से भी अधिक प्रवीण हो गया। एवं उसकी फैलती हुई वाण विद्या की कीर्ति को सुना तो घूमते फिरते हुए द्रोणाचार्य एक रोज उसके पास आये और बोले कि भाई! तुमने यह विद्या किससे सीखी है। उत्तर में यह कहते हुए कि प्रभो! मैंने आपसे ही सीखी है। यह देखिये आपकी मूर्ति वना कर रख छोड़ी है। द्रोणाचार्य के चरणों में गिर गया। द्रोणाचार्य बोले यदि ऐसा है तो इसकी दक्षिणा मुझे मिलनी चाहिये। जवाव मिला आप जो चाहें सो ही लीजिये, द्रोणाचार्य बोले और कुछ नहीं सिर्फ अपने दाहिने हाथ का अगूंठा दे दो। भील ने झट अगूंठा काटकर दे दिया। द्रोणाचार्य हँसे और वोले कि भील अव तुम बाण कैसे चलाओगे? गुरु कृपा चाहिये, ऐसा कहते हुए भील ने

पैर के अंगूठे से बाण चला दिया। द्रोणाचार्य ने उसकी पीठ ठोकते हुए कहा कि शाबाश बेटे! किन्तु किसी भी प्राणी की हिंसा करने में इस विद्या का दुरुपयोग मत करना। जवाब मिला कि प्रभो! हिंसा करना तो कमीनापन है मैं कमीना नहीं हूँ। इस पर द्रोणाचार्य हँसे। उनके हँसने का मतलब भील समझ गया। अतः वह बोला कि प्रभो यद्यपि मैं एक वनचर का लड़का हूँ किन्तु मैं समझता हूँ कि जन्म से कोई नीच और उच्च नहीं होता। जन्म तो सब का एक ही मार्ग से होता है। नीचता और उच्चता तो मनुष्यों के विचारों या कर्तव्य पर निर्भर है। जो आदमी एकान्त स्वार्थपरता को अपनाकर चोरी, चुगलखोरी जैसे दुष्कर्मों में फँसा रहता है वह मनुष्यता से दूर होने के कारण नीच बना रहता है। परन्तु जो मनुष्यता में समझता है वह इन दुर्गुणों से बिल्कुल दूर रह कर परोपकार, सेवाभाव आदि सद्गुणों को अपनाता है एवं उच्च बनता है। मैं भी अपने आप को मनुष्य मानता हूँ फिर आप ही कहें कि मैं मनुष्यता को कैसे भूल सकता हूँ?

शस्त्र सन्धारण करने को भी आज हिंसा का कारण मान कर हेय समझा जाने लगा है जो कि पूर्व जमाने में क्षत्रियता का भूषण होता हुआ चला आया है। पाषाण काल के अन्त में जब लोगों के लिये कृषि सम्पादन की आवश्यकता हुई तब दिव्य ज्ञानी भगवान ऋषभदेव ने उसकी सुव्यवस्था के लिये मनुष्य मात्र को तीन भागों में विभक्त किया।

१. क्षत्रिय। २. वैश्य। ३. शूद्र। उनमें से वैश्यों के जुम्मे खेती करने का और उसमें उत्पन्न हुई चीजों को यहाँ वहाँ पहुँचाने

का काम सौंपा गया। शूद्रों को उन्हीं चीजों को मनुष्यों के काम में आने योग्य बनाने का काम सोंपा गया और क्षत्रियों को उन सबकी रक्षा के लिए नियुक्त किया गया था। तब उन सबको उनके योग्य हथियार बना कर दिये गये थे ताकि वे लोग आसानी से अपने २ कार्य को सुसम्पन्न कर सकें। जैसे—किसान के लिए हल मूसल वगैरह। लौहार के लिए हथौड़ा घन वगैरह। वैसे ही क्षत्रिय के लिए तलवार बन्दूक वगैरह दिये गये थे। जिनके द्वारा क्षत्रिय वर्ग अपने प्रजा संरक्षण रूप कार्य में कुशलता पूर्वक उत्तीर्ण हो रहे हैं। एवं वास्तव में वह हिंसा का नहीं बल्कि अहिंसा का पोषक ही ठहरता है, यह बात दूसरी है कि वह अगर किसी साँसी बावरिया आदि हिंसक व्यक्ति के हाथ में आ जावेगा तो अवश्य ही हिंसा में प्रयुक्त होगा परन्तु वह उस हथियार का दोष नहीं, वह तो उस व्यक्ति के मन-चलेपन का फल है। हाँ, आज की जनता का अधिकांश यह हाल है कि वह क्षत्रियता से दूर होकर स्वार्थपरायणता की ओर ही बड़ी तेजी से दौड़ी चली जा रही है। इसलिये शस्त्रवृत्ति भी अनुपयोगी ही नहीं प्रत्युत घातक बनती जा रही है। जब कोई किसी भी शस्त्रधारी को देखता है तो भय के मारे थर थर कांप उठता है क्योंकि उसके मन में यह शस्त्रधर है, सबल है, अतः मेरी रक्षा करेंगे ऐसा विचार न आकर इसके स्थान पर यही भाव उत्पन्न होता है कि यह कहीं मुझे मार न डाले। क्योंकि आज जहाँ तहाँ बलीयानबलं भसते वाली कहावत के अनुसार जो भी बलवान है वह अपने उस बल का दुरुपयोग दुर्बलों को हड़पने में करता हुआ देखा जाता है। इसलिए हमारी सरकार को भी यह नियम बनाना

पड़ा है कि जो कोई भी शस्त्र रखना चाहे वह शस्त्र धारण करने से पहले इस बात को प्रमाणित करदे कि मैं उस शस्त्र के द्वारा संरक्षण का ही काम लूंगा, संहार करने का नहीं। एवं भले ही हमारी सरकार ने सर्वसाधारण को चुनौती दी है फिर भी मनचले आदमी समय पर अपनी काली करतूतों से बाज नहीं आते हैं।

(४०) अहिंसा की निरुक्ति।

हिंसा के अभाव का नाम अहिंसा है। हननं हिंसा, इस प्रकार हन धातु से हिंसा शब्द निष्पन्न हुआ है जो कि हन धातु सकर्मक है। यानी किसी को भी मार देना, कष्ट पहुँचाना, सताना हिंसा है। परन्तु किसी भी अबोध बालक का पिता, गलती करते हुए अपने उस बच्चे की गलती को सुधारने के लिए उसे डराता, धमकाता है और फिर भी नहीं मानने पर उसे मारता, पीटता है। अब शब्दार्थ के ऊपर ध्यान देने से पिता का यह काम हिंसा में आ जाता है एवं यह हिंसक बन कर पापी ठहरता है जो कि किसी भी प्रकार किसी को भी अभीष्ट नहीं है, अतः उस दुर्गुण से बचने के लिये हमारे महापुरुषों ने इसमें एक विशेषता स्वीकार की है। वह यह कि किसी को भी बरबाद कर देने की दृष्टि से उसे कष्ट दिया जावे तो वह हिंसा है। जैसा कि उमास्वामी महाराज के 'प्रमत्त योगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इस सूत्र से स्पष्ट है। मतलब यह है कि जो उसके पालन-पोषण का पूर्ण अधिकारी है वह बालक के जीवन को निराकुल बनाने के लिये सतत प्रयत्नशील रहता है। तो बालक जब कि अपने भोलेपन के कारण उसके जीवन को समुन्नत

वनाने वाली भलाई की ओर न बढ़कर प्रत्युत बुराइयों में फँसने लगता है तब ऐसा करने से रोकने के लिये उसे डाँट बताना पिता का कर्तव्य हो जाता है। इस प्रकार अपने कर्तव्य का निर्वाह करता हुआ पिता पुत्र का मारक नहीं किंतु संजीवक; संरक्षक होकर उसके द्वारा सदा के लिये समादरणीय होता है।

(४१) राजनीति और धर्मनीति।

इन दोनों में परस्पर विरोध है। क्योंकि धर्म तो अहिंसा का पालन करने एवं उसे अन्त तक अक्षुण्ण रूप निभा दिखलाने को कहते हैं। परन्तु राजाओं का काम अपने राज्य शासन को बनाये रखना होता है। अतः उसके लिये येन केन रूपेण अपने पक्ष को प्रवल वनाते चले जाना और अपने विरोधियों का दमन करते रहना होता है। इसलिए राज्यसत्ता हिंसापूर्ण पापमय हुआ करती है ऐसा कुछ लोग समझ बैठे हैं, किन्तु विचार करने पर यह ठीक प्रतीत नहीं होता है क्योंकि धर्म जो कि विश्व के कल्याण की चीज है उसे अपने जीवन में उतारने का नाम नीति है। राजा प्रजा का पालक होता है। संपूर्ण प्रजा को पापपङ्क से बचाकर उसे धर्म के पथ पर समारूढ़ करा देना ही राजा का काम है, प्रजा में सभी तरह के लोग होते हैं अतः जो लोग अपने मनचलेपन से उत्पथ की ओर जा रहे हों उन्हें नियंत्रित करने के लिये विधान करना शिष्टों का अनुग्रह करना, उन्हें सत्पथ की ओर बढ़ने के लिये प्रोत्साहन देना और दुष्टों की दुष्टता को निकालकर शिष्टता के सन्मुख होने को उन्हें वाध्य करना यह राजनीति है। इसलिये यह धर्म से विरुद्ध कैसे

कही जा सकती है ? यह तो धर्म को प्रोत्साहन देने वाली है। हाँ, इसमें इतनी बात अवश्य है कि धर्म तत्व सदा अटल है परन्तु नीतितत्वों में देश, काल की परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। फिर भी उस संविधान का कलेवर जितना भी हो वह सारा का सारा ही जन समाज के हित को लक्ष्य में लेकर किया हुआ होना चाहिये। उसका एक भी विधेयक ऐसा नहीं हो जो कि किसी के भी व्यक्तिगत स्वार्थ को लेकर रचा गया हो।

(४२) हिंसा के रूपान्तर।

चीन देश में बौद्धों का निवास है, उन लोगों को विश्वास है कि किसी भी प्राणी को मार कर नहीं खाना चाहिये। मुर्दा मांस के खाने में कोई दोष नहीं है। वहाँ ऐसी प्रवृत्ति चल पड़ी है कि जिस बकरे वगैरह को खाने की जिसकी दृष्टि होती है वह उसको मकान में ढकेल कर कपाट बन्द कर देता है और दो चार दिन में तड़फड़ा करके जब वह मर जाता है तो उसे खा लिया जाता है। कहने को कहा जाता है कि मैंने इसे नहीं मारा है, यह तो अपने आप मर गया हुआ है परन्तु उस भले आदमी को सोचना चाहिये कि यदि वह उसे बन्द न करता तो वह क्यों मरता ? अतः यह तो उस प्राणी को मारने के साथ २ अपने आपको धोखा देना है, सो बहुत बुरी बात है।

हाँ, माता अपने पुत्र में कोई बुरी आदत देखती है तो उसे उसको छोड़ने को कहती है, और नहीं मानता है तो धमकाने के लिये कभी २ [illegible] वगैरह से भी कुछ देर के लिये बांध देती

है या मकान के अन्दर बन्द कर देती है, सो ऐसा करना हिंसा में शुमार नहीं होना चाहिये क्योंकि यह तो उसको सुधारने के लिये किया जाता है। अन्तरंग में उसके प्रति उसका करुणाभाव ही होता है। देखो माता अपने बच्चे को जब चपेट मारने लगती है तो दिखाती बड़े ज़ोर से है किन्तु बच्चे के गाल के समीप आते ही उसका वेग बिल्कुल धीमा पड़ जाता है क्योंकि उसके दिल में दया और प्रेम का भाव होता है ताकि वह सोचती है कि यह डर कर सुधर जावे जरूर, किन्तु इसके चोट नहीं आने पाये। सो ऐसा तो करना ही पड़ता है, परन्तु कभी २ ऐसा होता है कि मनुष्य अपना बैर-भाव निकालने के लिये अपने कमजोर पड़ोसी को मुक्कों ही मुक्कों की मार से घायल कर डालता है। या कोई पशु उसकी धान की ढेरी में मुँह दे जावे तो रोष में आकर ऐसी लाठी वगैरह की चोट मारता है कि उसकी टांग वगैरह टूट जाती है सो ऐसा करना बुरा है।

पशु पालक लोग बैलों को बधिया कर लेते हैं या उनके नाक में नाथ डालते हैं। बनचर लोग सुरभिगाय की पूंछ तरास लेते हैं या हाथी के दांत काट लेते हैं यह भी एक तरह की हिंसा है। क्योंकि ऐसा करने में उस पशु को पूरा कष्ट होता है और काटने वाले की केवल स्वार्थपूर्ति है। हाँ किसी भी रोगी को डाह वगैरह दिया जाता है वह बात दूसरी है। किसी से भी शक्ति से अधिक काम लेना सो अतिभारारोपण है। जिस पशु पर पाँच मन वजन लादा जा सकता है, उस पर लोभ लालच के वश हो छह मन लाद देना। जो चलते २ थक गया है, चल नहीं सकता है, उसको

जबरन हण्टर के जोर से चलाते ही रहना। किसी भी नौकर चाकर से रुपये की एवज में सत्रह आने का काम लेने का विचार रखना। इत्यादि सब बातें भी हिंसा से खाली नहीं हैं।

हम देखते हैं कि प्रायः भले भले रईस लोग भी, जब उनका नौकर बीमार हो जाता है और काम नहीं आता है तो उसका इलाज कराने की सोचना तो दूर किनार रहा प्रत्युत उसकी उस दिन की तनखा भी काट लेते हैं। भला जरा सोचने की बात है, अगर आपकी मोटर या बाइसिकल खराब हो जावे, तो उसकी मरम्मत करावेंगे या नहीं ? यदि कहे कि उसको तो दुरुस्त कराना ही होगा तो फिर नौकर जो कि आप ही सरीखा मानव है ? वह उस निर्जीव बाइसिकल से भी गया बीता हो गया है ? ताकि आप उसकी परवाह न करें। इसको काम करते २ कितनी देर हो गई है, भोजन का समय हो गया है, भूख लग आई होगी। इस बात पर कोई ध्यान न देकर सिर्फ अपना काम हो जाने की ही सोचते रहना निर्दयता से खाली नहीं है। परन्तु इसके साथ में हम यह भी देखते हैं कि अधिकांश नौकर लोग भी मुफ्त की नौकरी लेना चाहते हैं। काम करने से भी जी चुराते हैं, मालिक का काम भले ही बिगड़ो या सुधरो इसकी उन्हें कोई परवाह नहीं होती है। बल्कि यही सोचते हैं कि कब समय पूरा हो और कब मैं यहाँ से चलूं सो यह भी बुरी बात है और पाप है। सिद्धान्त तो यह कहता है कि मालिक और नौकर में परस्पर पिता पुत्र का सा व्यवहार होना चाहिये।

(४३) अहिंसा का माहात्म्य।

जो किसी को भी कभी नहीं मारना चाहता उसे भी कोई क्यों मार सकता है ? जिसकी आन्तरिक भावना निरन्तर यही रहती है कि किसी को भी कोई तरह का कष्ट कभी भी न होवे तथा इसी विचारानुसार जिसकी बाहरी चेष्टा भी परिशुद्ध होती है उसकी उस पुनीत परिणति का प्रभाव ऐसा होता है कि उसके सम्मुख में आ उपस्थित हुआ एक खूंख्वार प्राणी भी जरासी देर में शांत हो रहता है। उसके ऊपर आई-हुई आपत्ति भी उसके आत्मबल से क्षण भर में सम्पत्ति के रूप में परिणत हो जाती है। इस वात के उदाहरण हमारे पुरातन इतिहास में भरे हुए हैं। वारि-षेण पर चलाया हुआ खड्ग उसका कुछ भी बिगाड़ न कर सका, सोमा सती को मारने के लिये लाया हुआ, काला नाग उसके छूते ही फूलमाला बन गया और एक गठरिया में बॉध कर तालाब में डाले गये राजकुमार और यमदण्ड चाण्डाल, इन दोनों में से राजकुमार तो मगरमच्छ द्वारा भक्षण कर लिया गया किन्तु यम-दण्ड चाण्डाल बाल बाल बच गया, इत्यादि ये सब अहिसा के ही प्रभाव हैं।

सुना जाता है कि दिग्विजय के लिये प्रस्तुत हुआ सिकन्दर जब भारत से वापिस लौट चला तो रास्ते में उसकी एक परमहंस महात्मा से भेंट हुई। उन्हें देखते ही सिकन्दर के रोप का ठिकाना न रहा। वह बोला अबे बे अदब! तू इस प्रकार लापरवाह होकर कैसे खड़ा है ? तुझे मालुम नहीं कि सामने से कौन आ रहा है ?

खबरदार हो, संभल जा वरना तो फिर देख यह तलवार आती है इस प्रकार कहते हुए तलवार निकाल कर वह उनके उपर लपका। महात्मा तो अपने ध्यान में मस्त थे! परमात्मा से प्रार्थना कर रहे थे कि हे भगवान् सबको सुबुद्धि दे। वे क्यों उसकी बात सुनने लगे। अतः उसी प्रकार निःशङ्क खड़े रहे। तब सिकन्दर के मन में एकाएक परिवर्तन हो गया कि अहो! यह तो खुदा का रूप है, प्रकृति की देन है, अपने सहजभाव से खड़ा है, मैं क्यों व्यर्थ ही इस पर रोष कर रहा हूँ? एवं वह अपनी तलवार को वापिस म्यान में रख कर उनके चरणों में गिर पड़ा और बोला कि प्रभो! मैं समझता था कि मुझे कोई नहीं जीत सकता परन्तु आपने मुझे जीत लिया है फिर भी मैं इस पराजय को अपना परम सौभाग्य समझता हूँ।

इसी प्रकार-ईसा के पूर्व छठी शताब्दी में एक लुटेरा हो गया है, वह जिसे भी पाता था उसी की हाथों की अंगुलियों को जला दिया करता था और उसके पास के माल को छीन लिया करता था इसीलिये लोग उसे अंगुलिमाल कहते थे। वह किसी भी राजा महाराजा से नहीं पकड़ा जा सका था। एकबार महात्मा बुद्ध उधर होकर जाने लगे तो लोग बोले महात्मन् इधर को मत जाइये इधर में तो अंगुलिमाल है जो कि बड़ा भयङ्कर है परन्तु उन्होंने लोगों के कहने को नहीं सुना और चले ही गये। जब अंगुलिमाल ने देखा तो बोला अरे! कौन है, खड़ा रह, कहाँ जा रहा है? बुद्ध ने चलते २ जबाब दिया मैं तो खड़ा ही हूँ, तूं चलता है, सो तूं खड़ा रह। अंगुलिमाल ने कहा, बड़ा विचित्र आदमी है? चला जा रहा है और बोलता है कि खड़ा तो हूँ, ठहर

ना नहीं तो फिर गोली से उड़ा दिया जावेगा। बुद्ध ने फिर कहा—भाई मैं ठीक तो कह रहा हूँ, इन दुनियाँ के लोगों को ठहरने के लिये जो बात होनी चाहिये मैं तो उसी बात पर स्थित हूँ परन्तु तू इसके इधर उधर जा रहा है अतः तुझे उसको सम्भालना चाहिये। बस इतना सुनना था कि अंगुलिमाल के विचारों में बिल्कुल परिवर्तन हो गया। अहो! मैं शरीर से मानव होकर भी मानवता से बिल्कुल दूर हूँ। मुझे इन महात्मा के निकट रह कर मनुष्यता का पाठ पढ़ना चाहिये। इस तरह सोचकर उनका परम शिष्य बन गया।

(४४) सत्य की पूजा।

आमतौर पर जैसा का तैसा कहने को सत्य समझा जाता है। परन्तु भगवान महावीर ने वाचनिक सत्य की अपेक्षा मानसिक सत्य को अधिक महत्त्व दिया है। हम देखते हैं कि काणे को काणा कहने पर वह चिढ़ उठता है, उसके लिये काणा कहना यह सत्य नहीं, किन्तु झूठ बन जाता है। क्योंकि उसमें वह अपनी अवज्ञा मानता है। है भी सचमुच ऐसा ही। जब उसे नीचा दिखाना होता है तभी कोई उसे काणा कहता है। मानो अन्धे को अन्धा कहने वाले का वचन तो सत्य होता है फिर भी मन असत्य से घिरा हुआ होता है। क्षुद्रता को लिये हुये होता है। अन्यथा तो फिर आइये, सूरदास जी! इन मिष्ट शब्दों में उसका आनन्द लिया जा सकता है। हाँ, यदि कोई छोटा बच्चा बैठा हो और उसकी माँ उससे कहे कि बेटा! यह अन्धा है, इसे इसकी आँखों से दीखता

नहीं है। इस पर फिर बच्चा कहे कि अले यह अन्धा है ? इसे इ
की आँखों से दीखता नहीं है ? तो यह सुनकर औरों की ही तर
उस अन्धे को भी दुःख नहीं होगा प्रत्युत वह भी प्रसन्न ही होग
क्योंकि बच्चे के मन में फितूर नहीं किन्तु वह सरल होता है। व
तो जैसा सुनता है या देखता है वैसा ही कहना जानता है
बनावटीपन उसके पास बिल्कुल नहीं होता।

बालक के सरल और स्वाभाविक बोलने पर जब लो
हँसते हैं तो मेरे विचार में वह बालक उन्हें हँसते देखकर अपने
विकाशशील हृदय में सोचता है कि मेरे इस बोलने में कुछ कमी है
इसीलिये ये सब मेरा उपहास कर रहे हैं। बस इसीलिये वह अपने
उस बोलने में धीरे २ बनावटीपन लाने लगता है। मतलब यह हुआ
कि सत्य बोलना तो मनुष्य का प्राकृतिक धर्म है किन्तु झूठ बोलना
सीखना पड़ता है।

लोग कहा करते हैं कि दुनियांदारी के आदमी का काम
असत्य बोले बिना नहीं चल सकता। परन्तु उनका यह विश्वास
उल्टा है क्योंकि किसी भी कार्य के होने या करने में सत्य क्यों रोडा
अटकाने लगा ? बल्कि यों कहना चाहिये कि सत्य के बिना काम
नहीं चल सकता। जो लोग व्यर्थ के प्रलोभन में पड़कर असत्य के
आदी बने हुए हैं उन्हें भी अपने असत्य पर सत्य का मुलम्मा
करना पड़ता है तभी गुजर होती है। फिर भी उनके मन में यह
भय तो लगा ही रहता है कि कहीं हमारी पोल न खुल जावे।
ऐसी हालत में फिर सत्य ही की शरण क्यों न लेनी चाहिये ? जिससे
कि निःसंकोच होकर चला जा सके। कुछ देर के लिये कहा जा

सकता है कि इस स्वार्थ भरी दुनियां में सत्यप्रिय को आर्थिक हानि उठानी पड़ती है, सो भी कब तक ? जब तक लोगों को यह पता न हो जावे कि यहाँ पर असत्य को कोई स्थान नहीं है। लोग सोचते हैं कि दुनियाँ दुरंगी है और उसी दुनियाँ में ही यह भी रहता है अतः उस दुरंगेपने से बच कैसे सकता है ? बस इसीलिये सत्यवादी को लोग कसौटी पर कस कर देखना चाहते हैं। एवं जहाँ वह उनकी कसौटी पर खरा उतरा कि फिर तो लोग उसका पीछा नहीं छोड़ते।

एक समय की बात है कि एक मारवाड़ी भाई श्री आचार्य १०८ श्री वीरसागर जी महाराज के दर्शन करने के लिये आया। महाराज ने उससे पूछा क्या धन्धा करते हो ? तो जवाब मिला कि आसाम में कपड़े की दुकान है। महाराज ने कहा कि सत्य से व्यापार करो तो अच्छा हो। इस पर वह हिचकिचाहट करने लगा। महाराज ने फिर कहा, कम से कम तुम छः महिने के लिये ऐसा करो, समझो कि बैठा खा रहा हूँ। तब उसने कहा, हाँ, इतना तो मैं कर सकता हूँ। सत्यवादी को इस बात पर ध्यान रखना होता है कि मेरे साथ में जिसका लेन देन हो उसे अच्छा सौदा मिले एवं दो पैसे कम में मिले तथा प्रेम का बर्ताव हो। बस उसने ऐसा ही करना शुरू किया। फिर भी जो कि पहले से मोल मुलाई करते आ रहे थे उन्हें एकाएक उस पर विश्वास कैसे हो सकता था ? अतः फिर ग्राहक लौटकर जाने लगे। मगर जब देखा कि उस दुकान से और दुकान पर हरेक चीज के एक दो पैसे अधिक ही लगते हैं तो लोगों के दिल में उसकी दुकान के प्रति प्रतिष्ठा जम गई। फिर क्या था ?

उत्तरोत्तर रोज अधिक से अधिक संख्या में ग्राहक आने लगे और बेबूझ होकर सौदा लेने लगे।

(४५) सत्यवादी के स्मरण रखने योग्य बातें।

जो सत्य का प्रेमी हो, सचाई पर भरोसा रखता हो, उसे चाहिये कि वह किसी की भी तरफदारी कभी न करे। अपने गुण अपने आप न गावे। दूसरों के अवगुण कभी प्रकट न करे। किसी की कोई गोपनीय बात कभी देखने जानने में आजावे तो औरों के आगे कभी न कहे। हमेशा नपे तुले शब्द कहे। एवं अपने आप पर काबू पाये हुए रहे तभी वह अपने काम में सफल हो सकता है।

उदाहरण स्वरूप हमें यहाँ सत्यवादी श्री हरिश्चन्द्र का स्मरण हो आता है जो कि शयन दशा में दे डाले हुये अपने राज्य को भी त्याज्य समझ लेते हैं और फिर उसको उत्सर्ग करने के प्रतिफल-रूप में बनारस के कालू भंगी के यहाँ कर्मचारी हो रहने को भी अपना सौभाग्य समझते हैं। इधर उन्हीं के समान उनकी पत्नी जो कि एक गृहस्थ के यहाँ नौकरानी बनकर अपना गुजर बसर करने लग रही थी, उसके पुत्र रोहितास को सर्प काट जाता है जिससे उसकी मृत्यु हो जाती है। उसकी लाश को वह (रानी) ले जाकर जब हरिश्चन्द्र घाट पर जलाने लगती है तो हरिश्चन्द्र अपने मालिक कालू के द्वारा निश्चित की हुई टैक्स वसूल किये बिना जलाने नहीं देते हैं। अपने मन में जरा भी संकोच नहीं करते हैं कि यह मेरे पुत्र की लाश है और मेरी ही स्त्री इसे जला रही है। बल्कि सोचते हैं जब मेरे मालिक ने टैक्स निश्चित कर रखा है और उसकी वसूली

के लिये मुझे यहाँ नियत किया है, फिर भला कोई भी क्यों न हो उससे टैक्स वसूल करना मेरा धर्म है। ओह! कितना ऊँचा आदर्श है ? जिसे स्मरण कर हृदय आनन्द विभोर हो जाता है। परन्तु उन्हीं की सन्तान प्रति सन्तान आज के इन भारतवासियों की तरफ में जब हम निगाह डालते हैं तो रुलाई भी आ जाती है, क्यों कि आज के हम तुम सरीखे लोग दो दो पैसे में अपने ईमान धर्म को बेचने के लिये उतारू हो रहते हैं। बल्कि कितने ही लोग तो बिना मतलब ही झूठी बातें बनाने में प्रवृत्त होकर अपने आपको धन्य मानते हैं। परन्तु उन्हें सोचना चाहिये कि सत्य के बिना मनुष्य का जीवन वैसा ही है जैसा कि बकरी के गले में हो रहने वाले स्तन का होता है।

(४६) सत्य परमेश्वररूप है।

मैं जब बालबोध कक्षा में पढ़ रहा था तो एक दोहा मेरी किताब में आया :—

साँच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप।
जाके मन में साँच है, वाके मन में आप॥

इसमें आये हुए आप शब्द का अर्थ अध्यापक महोदय ने परमेश्वर बतलाया जो कि मेरी समझ में नहीं आया। मैं सोचने लगा साँच तो झूठ का प्रतिपक्षी है, बोलचाल की चीज है, उसका ईश्वर के साथ में क्या सम्बन्ध हुआ ? परन्तु अब मैं देखता हूँ कि उनका कहना ठीक था। क्योंकि दुनियाँ के जितने भी कार्य हैं वे सब सत्य के भरोसे पर ही चल रहे हैं। आम लोगों की धारणा

भी यही है कि दुनियाँ का नियन्ता या कर्ता धर्ता परमेश्वर है ऐसी हालत में यह ठीक ही है कि सत्य ही परमेश्वर है जिसके कि सर्वथा न होने पर विश्व के सारे काम ठप्प हो जाते हैं। महात्मा गाँधी ने जब सत्याग्रह का काम चालू किया तो सबसे पहले उन्होंने यही कहा कि जो लोग परमेश्वर पर भरोसा रखते हों वे ही लोग मेरे इस आंदोलन में शामिल होवें। इस पर किसी भद्र पुरुष ने सवाल किया कि क्या फिर आपके इस काम में जैन लोग न आवें? क्योंकि वे लोग ईश्वर को नहीं मानते हैं। परन्तु महात्माजी ने कहा कि तुम भूलते हो क्योंकि जो सत्य और अहिंसा को मानता है वह ईश्वर को अवश्य मानता है।

मतलब यह कि जैन लोग ईश्वर को नहीं मानते सो बात नहीं किंतु उनके विचारानुसार ईश्वर हमारे हरेक कार्य करनेवाला हमारा कोई नौकर नहीं है किन्तु पदार्थ परिणमनशील स्वभाव है। जिसका कि दूसरा नाम सत्य है उस पर भरोसा लाकर अपना काम हम खुद करते हैं। हमें जब जो काम करना होता है तब अपने साहस धैर्य और प्रयत्न से उसके योग्य साधन सामग्री को जुटाकर एवं उसकी बाधक सामग्री से बचते हुये रहकर उसे कर बताते हैं। हाँ, हम छद्मस्थों की बुद्धि की मन्दता से उपर्युक्त प्रयत्न में जो कुछ कमी रह जाती है तो उतनी ही उस कार्य में सफलता कम मिलती है एवं प्रयत्न विपरीत हो जाने पर कार्य भी विपरीत हो रहता है। हाँ, कितने ही कार्य जैसे वर्षा का होना, सर्दी का फैलना, गर्मी का पड़ना आदि कार्य उपर्युक्त सत्य के आधार पर तत्काल के वातावरण को पाकर ही सम्पन्न हो रहते हैं उन्हें प्राकृतिक

कहा जाता है। परन्तु उपर्युक्त वातावरण के समुद्गम में भी हम सरीखे प्राणियों का अहिसा भाव उपयोगी होता है। इस तरह से सत्यनारायण को विश्व का सम्पादक तथा अहिसा उसकी शक्ति है ऐसा कहा जावे तो कोई न होती बात नहीं है।

(४७) अदत्तादान का विवेचन।

बलात्कार से या धोखेबाजी से किसी दूसरे के धन को हड़प जाना सो अदत्तादान है। बलात्कार से दूसरे के धन को छीन लेनेवाला डाकू कहलाता है तो बहानाबाजी से किसी के धन को ले लेने वाला चोर कहलाता है। चोरी या डकैती करना किसी का जातीय धन्धा नहीं है, जो ऐसा करता है वही वैसा बन रहता है। डाकू को तो प्रायः लोग जान जाते हैं अतः उससे सावधान होकर भी रह सकते हैं मगर चोर की कोई पहचान नहीं है। अतः उससे बचना कठिन है। जो कि चोर अनेक तरह का होता है जिसके प्रचलन को चौर्य कहना चाहिये। वह भी डाका डालने की तरह से अदत्तादान है, विना दिये ही ले लेना है। जैसे किसी सुनार को जेवर बना देने के लिये सोना दिया गया तो वह जेवर बना देता है और उसकी उचित मजूरी लेता है वह तो ठीक, किन्तु उसमें थोड़ी बहुत खाद अपनी तरफ से मिला देता है और उसकी एवज में सोना जो रख लेता है वह उसका अदत्तादान हुआ, विना दिये लेना हुआ, अतः चोर ठहरता है। दर्जी कोट वगैरह बनाकर देता है और उसकी उचित सिलाई लेता है, ठीक है किन्तु जहां तीन गज कपड़ा लगता हो वहाँ बहाना बनाकर साढ़े तीन गज ले लेवे तो वह

अदत्तादान है। ऐसे ही और भी समझ लेना चाहिये जैसा कि प्राय: यहाँ पर देखने में आ रहा है। कोई भी आदमी पूर्ण विश्वास के साथ में यह नहीं कह सकता कि बाजार में वह एक चीज तो ठीक मूल्य पर और सही सलामत मिल जावेगी। जीरे में गाजर का बीज, काली मिरचों में एरण्ड ककड़ी के बीज, घी में डालडा इत्यादि हर एक चीज में कोई न कोई तत्सदृश अल्प मूल्य की चीज का सम्मिश्रण करके देना तो साधारण बात है। और तो क्या शरीर को स्वस्थ बनाने के लिये ली जाने वाली दवाओं तक में बनावटीपन होता है, जिससे कि देश की परिस्थिति दिन पर दिन भयकर से भयकर बनती चली जा रही है। मैंने एक किताब में पढ़ा था कि एक बार एक हिन्दुस्तानी भाई विलायत में घूम रहा था सो क्या देखता है कि एक बहिन जिसके आगे दूध का बर्तन रखा हुआ है, फिकर में खड़ी है, अत: उसने पूछा कि बहिन तुम क्या सोच रहीं हो ? उसने कहा भाई साहेब ! मैंने एक महाशय को ५ सेर दूध देना कर दिया है, और मेरी गाय ने आज जो दूध दिया वह पाव कम पाँच सेर है, अत: मैं सोच रही हूँ कि क्या करूं ? इसे पूरा कैसे किया जा सकता है ? इस पर उसी हिन्दुस्तानी भाई ने तपाक से कहा कि वाह यह भी कोई फिकर की बात है क्या ? इसका उपाय तो बहुत आसान है इसमें से भले ही तुम पाव भर दूध और भी निकाल लो तथा इसमें आध सेर पानी मिलाकर दे आओ। उसने तो शाबाशी पाने के लिये ऐसा कहा था मगर उस बहिन ने कहा, छी ! छी ! यह तो बहुत बुरी बात है, ऐसा करने से हमारे देश के बाल बच्चे पोषण कैसे पा सकेंगे ?

खैर। कहने का मतलब यह है कि-मिलावटबाजी ने बहुत तरक्की पाई है, जिससे हमारे देश का भारी नुकसान हो रहा है। सरसों के तेल में सियाल कांटी का तेल मिलाकर दिया जाता है जिसको उपयोग में लाने वाले, उसको शरीर पर लगाने वालों के शरीर में फोड़े फुंसी हो जाते हैं, परन्तु देने वाले को इसकी कोई चिन्ता नहीं, उसे तो सिर्फ पैसा प्राप्त कर लेने की सूझती है। आज पैसा परमेश्वर बन रहा है किन्तु मनुष्य मनुष्य भी नहीं रहा, कैसी दयनीय दशा है कहा नहीं जाता। मैं सोच ही रहा था कि एक आदमी बोला महाराज क्या आश्चर्य है ? मिलावट में तो थोड़ी बहुत चीज रहती है। यहाँ तो चाय के बदले सर्वेसर्वा चनों के छिलके होते हैं और लेने वाले को पता भी नहीं पड़ता, हद हो गई।

(४८) आज कल के लोगों का दृष्टिकोण।

भूतल पर दो चीजें मुख्य हैं, शरीर और आत्मा। शरीर नश्वर और जड़ है तो आत्मा शाश्वत और चेतन। इन दोनों का समायोग विशेष मानव-जीवन है। अतः शरीर को पोषण देने के लिये धन की जरूरत होती है तो आत्मा के लिये धर्म की, एवं साधक दशा में मनुष्य के लिये यद्यपि दोनों ही अपेक्षनीय हैं फिर भी हमारे बुजुर्गों की निगाह में धर्म का प्रथम स्थान था। हाँ, उसके सहायक साधन रूप में धन को भी स्वीकार किया जाता था। परन्तु जहाँ पर वह धन या उसके अर्जन करने की तरकीब यदि धर्म की घातक हुई तो उस ऐसे धन को लात मारकर धर्म का संरक्षण किया करते थे, किन्तु आज के लोगों का दृष्टिकोण सर्वथा इसके

विपरीत है। आज तो धर्म को ढकोसला कह कर धन को ही सब कुछ समझा जाता है। येन केन रूपेण पैसा बटोरने का ही लक्ष्य रह गया है। कहीं कोई बिरला ही मिलेगा जो कि अपनी मेहनत की कमाई पर गुजर बसर कर रहा हो, प्रायः प्रत्येक का यही विचार रहता है कि कहीं से लूट खसोट का माल हाथ लग जावे। कहीं पाकेटमारी का हल्ला सुनाई देता है तो कहीं जुआचोरी का। कोई खुद चोरी करता है तो कोई उसके लाये हुये माल को लेकर उसे प्रोत्साहन देता है। आयात निर्यात की चोरियों का तो कुछ ठिकाना ही नहीं रहा है। सुना गया है, दूसरे देशों से सोना लाने वाले लोग जांघ फाड़कर वहाँ भर लाते हैं। कोई सोने की गोलियां बनाकर मुंह में रख लेते हैं। बिना टिकट रेलगाड़ी में जाना आना तो भले २ लोगों के मुँह से सुना जाता है, मानो वह तो कोई अपराध ही नहीं। मैं तो कहता हूँ कि व्यक्तिगत चोरी की अपेक्षा से भी स्वार्थवश होकर कानून भंग करना और सरकारी चोरी करना तो और भी घोर पाप है, अपराध है। क्योंकि उसका प्रभाव तो सारी समाज पर जा पड़ता है। परन्तु जो कोई सिर्फ अपनी ही हविस पूरी करना जानता है उसे यह विचार कहाँ। वह तो किसी भी तरह से अपना मतलब सिद्ध करना चाहता है। सरकार तो क्या, लोग तो धर्मायतनों से भी धोखा करने में नहीं चूकते हैं। गौशाला सरीखी सार्वजनिक धार्मिक संस्थाओं में भी आये दिन गड़बड़ी होती हुई सुनी जाती है। प्रामाणिकता का कहीं दर्शन होना ही दुर्लभ हो रहा है। सरकार प्रबन्ध करते करते थक गई है और अपराध दिन पर दिन बढ़ते जा रहे हैं। लोग कहते हैं कि मिट्टी बड़ा

क्रूर जानवर होता है परन्तु मैं तो कहता हूँ कि ये बिना मार्कों के सिंह उससे भी अधिक क्रूर हैं जो कि देश भर में विप्लव करते चले जा रहे हैं।

एक रोज एक निशानेबाज आदमी घोड़े पर चढ़कर जंगल की ओर चल दिया, कुछ दूर जाने पर उसे एक बाघ दीख पड़ा तो उसने अपना घोड़ा उसी बाघ के पीछे कर दिया। थोड़ी देर बाद वह बाघ तो अदृश्य हो गया और उसकी खोज में उसकी एक साधु से भेंट हुई, तब वह साधु के पैरों पड़ा। साधु ने कहा तुम कौन हो ? तो वह बोला प्रभो एक तीरन्दाज हूँ और क्रूर प्राणियों का शिकार किया करता हूँ। आज एक बाघ मेरे आगे आया था परन्तु न मालूम अब वह कहां गायब हो गया और अब तो रात होने को आ गई है। साधु ने कहा कोई हर्ज नहीं, रात को शिकार और भी अच्छा मिलता है, चलो मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ। चलते चलते मदन बाजार में एक वेश्या के घर पर पहुँच जाते हैं तो क्या देखते हैं कि एक महाशय वेश्या के साथ बैठे २ शराब पीते जाते हैं और कहते जाते हैं कि हे प्रिये, इस दुनियां में मेरी तो उपास्य देवता एक तूं ही है। दिन में साधु बन कर सड़क पर बैठ जाता हूँ और किसी भगत को फीचर के ऑक, तो किसी को सट्टे फाटके की तेजी मन्दी बता देता हूँ, एवं कोई पक्का जुआरी मिल गया तो उसे विजयकारक यन्त्र देने का ढोंग रचकर माल ऐंठता हूँ। दिन भर में जो कुछ पाया वह रात को आकर तेरी भेंट चढ़ा जाता हूँ। आगत साधु अपने तीरन्दाज से बोला कि कहो कैसा शिकार है मगर अब थोड़ी दूर आगे चलो। चल कर चीफ जज के

मकान पर पहुँचे तो वहाँ पर जज साहेब के सामने एक वकील महाशय खड़े हैं जो कि एक हजार मोहरों की थैली देते हुये उन्हें कह रहे हैं कि श्रीमान् जी मेरे मुवक्किल का मुकदमा आपके पास विचारार्थ आया हुआ है जिसमें उसके लिये बलात्कार के अभियोग स्वरूप कारागार का हुक्म अदालत ने निश्चित किया है। प्रार्थना है कि विचार करते समय आप उसे उससे उन्मुक्त रहने देने की कृपा करें और बाल बच्चों के लिये यह तुच्छ भेंट स्वीकार करें।

यह देखकर तीरन्दाज बोला, ओह! बड़ा अनर्थ है। यहाँ पर तो स्वार्थवश होकर न्याय का ही गला घोंटा जा रहा है, किन्तु साधु बोला अभी थोड़ा और आगे चलना है। चल कर एक इन्सपेक्टर (निरीक्षक) के कमरे के पास पहुँच जाते हैं। वहाँ क्या देखते हैं कि उनके सम्मुख मेज पर तीन चार बन्द बोतलें रखी हैं जिनमें शुद्ध पानी भरा हुआ है और आरोग्य सुधा का लेबिल चिपका हुआ है, आगे एक आदमी खड़ा है और यह कह रहा है महाशय! अपराध क्षमा कीजिये, यह दो हजार मोहरों की थैली लीजिये और इन बोतलों के बदले में ये आरोग्य सुधा की यह असली बोतलें रख देने दीजिये। अब तो तीरन्दाज के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह कहने लगा कि हे भगवन् यहाँ तो जिधर देखो उधर ही यही हाल है, किस किस को तीर का निशाना बनाया जाय? वस्तुतः विचार कर देखा जावे तो जिस प्रकार ये लोग अपने जीवन के लिये औरों के खून के प्यासे बने हुए हैं, अन्याय करते हैं तो मैं क्या इन सबसे कम हूँ? ये लोग तो स्वार्थवश अन्धे होकर ऐसा करते हैं। मैं तो स्वयं इनके प्राणों का ग्राहक हो रहा

ई अगर कहूँ कि क्रूरता का अन्त करना है तो भला कहीं क्रूरता के द्वारा क्रूरता का अन्त थोड़े ही होने वाला है ? क्रूरता को मारने के लिये शान्ति की जरूरत है तो स्वार्थ को मारने के लिये त्याग की, और दूसरों को सुधारने के लिये अपने आप सुधर कर रहने की एवं अपने आप सुधर कर रहने के लिये सबसे पहले काम पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है।

(४१) काम पर विजय श्रेयस्कर है।

काम यह संस्कृत भाषा में इच्छा का पर्यायवाची माना गया है। वैसे तो मनुष्य नाना प्रकार की इच्छाओं का केन्द्र होता है किन्तु उन इच्छाओं में तीन तरह की इच्छायें प्रसिद्ध हैं। खाने की, सोने की, और स्त्री प्रसंग की। इनमें से दो इच्छायें बालकपन से ही प्रादुर्भूत होती हैं तो स्त्री प्रसंग की इच्छा युवावस्था में विकसित हुआ करती है। एवं पहले वाली दोनों इच्छाओं को सम्पोषण देना एक प्रकार से शरीर के सम्पोषण के लिये होता है किन्तु स्त्री प्रसंग को कार्यान्वित करना केवल शरीर के शोषण का ही हेतु होता है। अतः पूर्व की दो इच्छाओं को हमारे महर्षियों ने काम न कहकर आवश्यकता कहा है एवं कुछ हद तक उन्हें पूर्ण करना भी अभीष्ट बताया है इसलिये गृहस्थ की तो बात ही क्या ? साधुओं तक को उनकी पूर्ति के लिये यथोचित आज्ञा प्रदान की है परन्तु स्त्री-प्रसंग की इच्छा को तो सर्वथा नियन्त्रण योग्य ही कहा है, यह बात दूसरी है कि हरेक आदमी उसका पूर्ण नियन्त्रण करने में समर्थ न हो सके। एवं कामेच्छा को नियन्त्रण करना इसलिये आवश्यक कहा

गया है कि कोई भी मरना नही चाहता, हर समय अमर रहने के लिये ही अपनी बुद्धि से सोचता है। काम को जीतना सो बुद्धि के विकास का हेतु और मृत्यु का जीतना है परन्तु काम सेवन करना बुद्धि के विध्वंश के लिए होकर मृत्यु को निमन्त्रण देना है। अपने आप मरण मार्ग का निर्माण करना है।

हमारे हितचिन्तक महात्माओं ने उपर्युक्त सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर ही हम लोगों के लिये ब्रह्मचर्य का विधान किया है। बतलाया है कि मनुष्य अपने विचारों में स्त्री को स्त्री ही नहीं समझना, चित्त में उसकी कभी भी याद ही नहीं आने देना, ऐसे पूर्ण ब्रह्मचर्य को भी यदि धारण नहीं कर सके तो एक देश ब्रह्मचर्य का पालन तो अवश्य ही करे। स्पष्ट युवावस्था आने से पूर्व कुमार काल मे कभी स्त्री प्रसंग का नाम न ले। वहाँ तो अपना भावी जीवन सुन्दर से सुन्दर बने इसकी साधन सामग्री बटोरने में ही समय बीतना चाहिये और वृद्धावस्था आ जाने पर यदि स्त्री विद्यमान भी हो तो उसका त्याग कर सिर्फ परमात्म स्मरण में अपने समय को बिताने लगे। रही मध्य की युवावस्था सो वहाँ पर भी स्त्री को आराम देने की मशीन न मानकर अपने शरीर में आ प्राप्त हुये अवस्थोचित विकार को दबाने के लिये मधुर दवा के रूप में उसका सेवन किया जा सकता है।

हमारे पूर्वाचार्यों ने इसे पशु कर्म बतलाया है। इसका मतलब यह कि पशु ऋतुकाल में एक बार ही ऐसा करता है फिर नहीं। अब अगर हम यदि मनुष्य कहलाते हैं तो हमें उससे अधिक संयमित होना चाहिये। परन्तु यदि उस नियम को भी भंग करके

मनमाना करते हैं तो मनुष्य तो क्या पशु भी नहीं बल्कि महर्षियों की निगाह में पशु से भी हीन कोटि पर आ जाते हैं। परन्तु खेद है कि इस बात का विचार रखने वाला कोई बिरला ही महानुभाव होगा। हर एक मनुष्य के लिये तो पर्वादि के दिन भी ब्रह्मचर्य पूर्वक रह जाना बहुत बड़ी बात हो जाती है कितने ही तो ऐसे भी निकल आयेंगे जिनको अपनी पराई का भी विचार शायद ही हो। कुछ लोग तो बेहूदेपन से भी अपने ब्रह्मचर्य को बरबाद कर डालते हैं। आज इस विज्ञान की तरक्की के जमाने में तो एक और कुप्रथा चल पड़ी है वह यह कि जहाँ दो चार बच्चे हो ले तो फिर बच्चे-दानी निकलवा डालनी चाहिये, ताकि बच्चा होने का तो कुछ भी भय न रहे एवं निडर होकर संसार का मजा लूटा जावे। कोई कोई तो शादी सम्बन्ध होते ही आप्रेशन करवा डालते हैं ताकि बच्चे की आमदनी होकर उनकी गृहदेवी का नूर न बिगड़ने पावे। भला सोचो तो सही इस विलासिता की भी क्या कोई हद है ? जहाँ कि अपनी क्षणिक घृणित स्वार्थपूर्ति के लिये प्राकृतिक नियम पर भी कुठाराघात किया जाता है। भले आदमी अपने लंगोट को ही कस कर क्यों न रखें ताकि उनका परमात्मा प्रसन्न हो एवं उन्हे वास्तविक शान्ति मिले।

(५०) विवाह की उपयोगिता।

आजकल के नव विचारक लोगों का कहना है कि विवाह की क्या आवश्यकता है वह भी तो एक बन्धन ही तो है। बन्धन से मुक्त हो रहना मानवता का ध्येय है। फिर जानबूझ कर बन्धन में

पड़ रहना कहाँ की समझदारी है। स्त्री और पुरुष दोनों को दाम्पत्य जीवन से विहीन होकर सर्वथा स्वतन्त्र रहना चाहिये। ठीक है, विवाह वास्तव में बन्धन है परन्तु विचार यह, कि उससे मुक्त हो रहने वाला जावेगा कौन से मार्ग से ? अगर वह ब्रह्मचर्य से ही रहता है तब तो है ठीक, उसे विवाह करने के लिये कौन वाध्य करता है ? मगर ऐसा तो सभी स्त्री पुरुष कर नहीं सकते है, जिसने अपनी वासना के ऊपर नियन्त्रण पा लिया हो ऐसा कोई बिरला व्यक्ति ही कर सकता है। बाकी के स्त्री पुरुष तो अपनी वासनातृप्ति के लिये इधर उधर दौड़ ही लगावेंगे। फिर उनमें और पशुओं में अन्तर ही क्या रह जावेगा ? बल्कि पशुओं का तो एक तरह से निर्वाह भी है क्योंकि वे लोग विवाह बन्धन से नहीं तो प्राकृतिक बन्धन से तो बँधे हुए रहते हैं। इस बारे में वे अपनी सीमा से बाहर कभी नहीं होते, परन्तु मनुष्य में ऐसी बात नहीं है तथा वह एकान्त सौंदर्य का उपासक होता है, जब तक सौंदर्य है तब तक ही एक दूसरे को याद करता है, फिर कौन किसी को क्यों पूछेगा तो कैसे निर्वाह होगा ? किन्तु मनुष्य एक सामाजिक जीवन विताने वाला प्राणी है। सामाजिकता का मूल आधार विवाह सम्बन्ध का होना ही है। अतः उसे सुचारु रखना समझदारों का कर्त्तव्य है। हाँ, वर्तमान में उसमें जो खराबियाँ आ घुसी हैं उनका दूर करना परमावश्यक है।

(५१) विवाह का मूल उद्देश्य

सामाजिकता को अक्षुण्ण बनाये रखना है और दुराचार से ... भी वैषयिक सुख की मिठास को चखते रहना है जैसे कि हमारे पूर्व विद्वान श्रीमदाशाधर के "रति वृत कुलोन्नति" इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है। यह तभी बन सकता है कि विवाहित दम्पतियों में परस्पर सौहार्दपूर्ण प्रेमभाव हो। इसके लिये दोनों के सौहार्द रहन-सहन, शील-स्वभाव मे प्रायः हर बात में समकक्षता होनी चाहिये। अन्यथा तो वह दाम्पत्य-पथ कण्टकाकीर्ण होकर सदा के लिये क्लेश का कारण हो जाता है। जैसा कि सोमा सती आदि के आख्यानों से जान लिया जा सकता है। एवं इस अनबन को दूर हटाने के लिये हमारे पूर्वजों ने एक स्वयंवर-प्रथा को जन्म दिया था, जिसमें कि कन्या अपनी बुद्धिमत्ता से अपने योग्य पति को स्वयं ढूंढ निकालती थी। उदाहरणार्थ गीतकला ने अपनी संगीतज्ञता के द्वारा धन्यकुमार को स्वीकार किया था। परन्तु ऐसा सभी जगह नहीं होता था, बल्कि अधिकांश कन्याओं को तो उनके माता पिता ही योग्य वर के साथ संयोजित करते थे। तो वे सब भी वहाँ धनादिक और सब बातों पर कोई खास लक्ष्य न देकर यह जरूर देखते थे कि जिस वर के साथ हम अपनी बाई का सम्बन्ध करने जा रहे हैं उसका शीलस्वभाव इसके साथ मेल खाता है या नहीं।

एक बहुत बड़ा बादशाह था जिसके एक लड़की हुई जो कि पूर्व जन्म के संस्कार विशेष से जनता की सेवा करने वाली, सन्तोष

स्वभाव वाली, सादा खाना और सादा पहनावा रखने वाली थी किन्तु अपने सहज सौन्दर्य से और अपनी सहेलियों में सबसे बढ़कर थी अतः जब वह विवाह योग्य हुई तो बड़े २ बादशाहों के लड़कों ने अपनी सहयोगिनी उसे बना रखने की उत्कण्ठा प्रगट की परन्तु उसके पिता बादशाह ने सोचा कि इसके लिये जो वर हो वह इसी जैसी प्रकृति का होना चाहिये। अब एक रोज बादशाह घूमने को निकला तो कुछ दूर जंगल में चला गया। वहाँ उसकी एक नवयुवक से भेंट हुई जो कि वहाँ कुटिया बनाकर रह रहा था। अपने खेत में उसने आम, अमरूद, नारङ्गी अनारादि के चार छः पेड़ लगा रखे थे। बाकी जमीन में खेती करके अपनी गुजर करता था और आगत लोगों की सेवा करके अपने जन्म को सफल बना रहा था। बादशाह को आया जान उसने उचित स्वागत किया। बादशाह को उसकी चेष्टा से प्रसन्नता हुई तो वह बोला कि मैं मेरी लड़की की शादी आपके साथ करना चाहता हूँ। युवक ने कहा प्रभो! आप अपनी लड़की की शादी मेरे साथ कैसे कर सकोगे? मैं तो मेहनत करने वाला हूँ। सद् कमाता और सद् खाता हूँ। बादशाह बोला, तुम्हें इसकी कुछ चिन्ता नहीं, तुम मेरे साथ चलो। युवक बादशाह के साथ में हो लिया। जाते ही बादशाह ने अपनी लड़की की शादी उस युवक के साथ कर दी। तत्पश्चात् वर-वधू जब कुटिया के समीप आये तो शहजादी कुटिया में घुसने से रुकी। युवक ने पूछा कि प्रिये! क्या बात है? तो जवाब मिला कि सामने में चूल्हे पर क्या पड़ा है? तब फिर युवक बोला कि चार रोटियाँ सबेरे बनाई थीं। उनमें से दो तो मैंने खा ली थीं और

दो बच रही थीं तो मैंने सोचा सायंकाल के समय खा ली जावेंगी, वे ही पड़ी हैं। इस पर शहजादी बोली कि हे प्रभो! अन्यड का फिक्र अभी से? ये दो रोटियाँ तो किसी गरीब भाई को दे देनी थी, सायंकाल तक जिन्दगी रही तो और रोटियाँ बनाकर खा ली जा सकती हैं। यदि ऐसी संग्रहकारिता ही मुझे पसन्द होती, तो किसी शाहजादे के साथ ही मैं मेरा नाता जोड़ती, आपके पीछे क्यों लगती? यह सुनकर युवक बहुत खुश हुआ।

मतलब इस सब लिखने का यह है कि जैसी के साथ में वैसे का सम्बन्ध ही प्रशंसा योग्य होता है। मगर आज ऐसा सम्बन्ध कोई विरला ही होता होगा। आज तो यदि देखा जाता है या तो रूप सौन्दर्य या वित्तकोष। बस, इन दो के पीछे ही आज की जनता बँधी हुई है। इसीलिये आजकल का दाम्पत्य जीवन प्रेमोद्भावक न होकर प्रायः कलह का स्थान हो रहता है। स्वर्ग का सन्देश मिलने के बदले वहाँ पर नरक का दृश्य देखने को मिलता है।

(५२) संतोष ही सच्चा धन है।

जिस चीज से हमें आराम मिले, जिस किसी चीज की मदद से हम अपनी जीवन यात्रा के उस छोर तक आसानी से पहुँच सकें उसे धन समझना चाहिये। इस दुनियां के लोगों ने कपड़ा-लत्ता रुपया-पैसा आदि बाह्य चीजों में ही आराम समझा। अतः इन्हीं के जुटाने में अपनी प्रज्ञा का परिचय देना शुरू किया। कपड़े के लिये पहले पहले लोगों ने अपने हाथों से अपने खेत में कपास पैदा कर, रुई धुन कर अपने हाथ के चरखे से सूत कातकर अपने

हाथ से उसका कपड़ा वुनकर अपना तन ढकना शुरू किया। फिर जब और आगे बढ़े तो मिलों को जन्म दिया। जिनमें शुरू में मार-कीन, फिर नयनसुख मलमल, अबरवा सरीखे बारीक से बारीक वस्त्र तैयार होने लगे। शुरू में लोग पैदल चलते थे और दूर जाना होता तो बैलगाड़ी या घोड़ा गाड़ी में बैठकर चले जाते थे। मगर आज तो मोटर गाड़ी, रेलगाड़ी और हवाई जहाज तक चल पड़े। जिससे घन्टे भर में हजारों मील चला जा सके। बल्कि चार छः पैंड भी चलना हो तो बाइसिकल के आधार से चला जाता है। पैदल चलना एक प्रकार से अपराध सा समझा जाने लगा है। पैदल चलते समय पैरों में काँटे न गड़ पावें इसलिये पहले काठ की खड़ाऊं पहनकर निर्वाह किया जाने लगा, फिर मुर्दा चमड़े के जूते बनने लगे परन्तु आज तो निर्दयतापूर्वक विचारे जिन्दा पशुओं का ही चमड़ा उधेड़कर उसके जूते बनने लगे हैं। जिनको कि पहन लेने के बाद वापिस खोलना असभ्य गँवारू लोगों का काम समझा जाता है। जूता पहिने ही सो रहना चाहिये और जूता पहने ही खाना भी खा लेना चाहिये। इसी में अपनी शान समझी जाने लगी है। गर्मी से बचने के लिये पहले तो दरख्तों की हवा ली जाती थी फिर ताड़ व खजूर वगैरह के पत्तों के पंखे बनाकर उनसे अपना काम निकाला जाने लगा। परन्तु अब तो बिजली के पंखों का आविष्कार हो लिया है जिससे कि बटन दबाया और मनमानी हवा लें ली जावे। पीने के लिये पानी भी पहले तो तालाब या नदियों से लिया जाता था। फिर कुएं, बावड़ियाँ, बनने लगीं परन्तु अब तो हैण्डपम्प और नल आदि से मनमाना पानी मिलने लगा।

मतलब यह कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अधिक से अधिक सुविधा प्राप्त करता जा रहा है। फिर भी किसी को शान्ति के दर्शन नहीं हो रहे हैं प्रत्युत विषमता होती जा रही है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्पर्धा की सड़क पर दौड़ लगाते हुए अपने आपको सबसे अगाड़ी देखना चाहता है। बस इसी चिन्ता में इसका सारा समय बीतता है। यहाँ पर हमें एक बात की याद आ जाती है:—

एक अच्छे करोड़पति सेठ थे। जिनकी कई दुकानें चलती थीं जिनकी उलझन में सेठ जी खाना खाने को भी दौड़ते से आते थे तथा रात को सोने के लिये भी बारह बजे आते थे, सो आते ही सो जाते थे। परन्तु स्वप्न में उन्हें व्यापार कारोबार की बातें ही सूझती थीं। एक रोज सेठानी बोली हे पतिदेव! आप इतने बड़े सेठ हैं फिर भी आपके चित्त पर हर समय बड़ी व्यग्रता देखती हूँ। मेरे देखने में आपसे तो यह अपना पड़ोसी फूसिया ही सुखी मालूम पड़ता है जो समय पर मजदूरी करने जाता है और परिश्रम करके समय पर आ जाता है। सायंकाल के समय सितार पर दो घड़ी भगवान का भजन कर लेता है। सेठ ने कहा ठीक बात है। एक काम कर। यह कुछ रुपयों की थैली है सो जाकर उसके आंगन में गिरा कर आजा। सेठानी ने ऐसा ही किया। सवेरा होते ही जब फूसिया ने अपने यहाँ थैली पड़ी देखी तो विचार किया मैं भगवान का भगत हूँ अतः भगवान ने खुश होकर मेरे लिये भेजी है। परन्तु जब उसके रुपये गिने गये तो एक कम सौ थे। सोचा भगवान ने एक कम सौ क्यों रहने दिया? खैर कोई बात नहीं, इसे मैं पूरा

कर लूँगा। अब वह उस रुपये को पूरा करने की फिकर में कुछ अधिक परिश्रम करने लगा। धीरे धीरे रुपया पूरा हुआ तो अब उनको रखने के लिए एक सन्दूक और एक ताला की भी जरूरत हुई। धीरे धीरे परिश्रम करके उनकी भी पूर्ति की। परन्तु अब वह सन्दूक उन रुपयों से भरी नहीं, कुछ खाली रह गई तो फिर उसे भर लेने की फिकर रही, इसी उधेड़बुन और परिश्रम में पड़कर उसने वह सितार बजाना छोड़ दिया। बस यही हाल आज की सारी जनता का हो रहा है। एक घटे एक घटे वह पूरा हो जावे, कहीं से बिना कमाया पैसा आ जावे और मैं धनवान बन जाऊँ। इसी दौड़ धूप में सभी तरह की समुचित साधन सामग्री होने पर भी बिना सन्तोष भाव के सुख कहाँ हो सकता है ? सुख का मुख्य साधन तो सन्तोष है अतः वही वास्तविक धन है। उसके सामने और सब बेकार है जैसा कहा है कि :—

गो धन गजधन वाजि धन, कंचन और मकान।
जब आवे संतोष धन सब धन धूल समान ॥१॥

भगवान महावीर स्वामी के समय में उनका भगत एक गृहस्थी हो गया है। जिसकी कि धर्मपत्नी भी उसी के समान स्वभाव वाली थी, दोनों मेहनत मजदूरी कर पेट पालते थे। उस गृहस्थ का नियम था कि मै मेरे पास बारह आने से अधिक नहीं रखूंगा। इसलिये लोग उसे पूणियाँ श्रावक कहते थे। एक रोज दोनों स्त्री पुरुष सुबह की सामायिक करने को बैठे थे। इधर आकाश मार्ग से होकर देवता लोग भगवान की वन्दना के लिये

जा रहे थे। सो उनके ऊपर आकर उन देवताओं का विमान अटक गया। देवों ने सोचा ये दोनों भगवान के भक्त होकर भी इतने गरीब हैं। हम लोगों को इनकी कुछ सहायता करनी चाहिये। अतः उनके तवा, वेलन चकलादि को सोना बनाकर आगे को रवाना हुये। उधर सामायिक का समय पूर्ण होने पर पूणियाँ की स्त्री बोली हे प्रभो! आज यह क्या बात हुई? मेरे चकला बेलन कहाँ गये? और उनकी एवज में ये चकला बेलन आदि कौन किसके, यहाँ रख गया है? हे भगवान! मैं अब रोटियां बनाऊँ तो कैसे बनाऊँ? इनके हाथ भी कैसे लगाऊँ? इतने में देव लोग वापिस लौटकर आये और बोले कि आप लोगों की धर्म भावना से प्रसन्न होकर यह ऐसा तो हम लोगों ने किया है। हम लोगों की तरफ से आपको यह सब भेंट है, आप ले लेवें। पूणियाँ की स्त्री ने कहा प्रभो! हमारे ये किस काम के। हमारे लिये तो वे सब ही भले हैं जोकि मिट्टी और पत्थर के थे। इन सब का हम क्या करें? इन सब के पीछे तो हम लोग बँध जावेंगे, इनको कहाँ रखेंगे? हमें यह सब नहीं चाहिये, आप अपने वापिस लीजिये, हमे तो अपने वे ही देने की कृपा कीजिये। इस पर आनन्दित होकर देवता लोग बोले ओह! कितना बड़ा त्याग है, और जय जयकार पूर्वक उन पर फूल बर्षाये।

(५३) गरीब कौन है?

जिसके पास कुछ नहीं है वह। ऐसा कहना भूल से खाली नहीं है। जिसके पास भले ही कुछ न हो परन्तु उसे किसी बात की

चाह भी न हो तो वह गरीब नहीं, वह तो अटूट धन का धनी है। गरीब तो वही है जिसके पास में अपने निर्वाह से भी अधिक सामग्री मौजूद है फिर भी उसकी चाह पूरी नहीं हुई है। जिसके पास खाने को कुछ भी नहीं है और उसने खाया भी नहीं मगर भूख बिल्कुल नहीं है तो क्या उसे भूखा कहा जावे ? नहीं। हाँ, जिसने दो लड्डू तो खा लिये हैं और चार लड्डू उसकी पत्तल में धरे हैं जिसको कि वह खाने लग रहा है किन्तु फिर भी कह रहा है मुझे और चाहिये, इतने ही से मुझे क्या होगा ? क्या इनसे मेरा पेट भर सकता है ? तो कहना होगा वही भूखा है।

एक समय किसी वृक्ष के नीचे एक परमहंस महात्मा बैठे हुए थे। उनके पास होकर एक भोला गृहस्थ निकला तो—अहो! यह बड़ा गरीब है, इसके पास तन पर कपड़ा नहीं, खाने को एक समय का खाना नहीं! ऐसा सोचकर कहने लगा स्वामिन्! ये दो लड्डू हैं, लीजिये खा लीजिये। यह धोती है इसे पहन लीजिये और यह चार पैसे आपके हाथ खर्चे के लिये देता हूँ सो भी ले लीजिये एवं आराम से रहिये। साधुजी बोले भाई! लड्डू किसी भूखे को, धोती किसी नंगे को और पैसे किसी गरीब को दे दो। यह सुन कर आश्चर्यपूर्वक गृहस्थ बोला प्रभो! आपके सिवा दूसरा ऐसा कौन मिलेगा ? तब फिर साधुजी बोले, भाई। मैं तो भगवान का भजन कर रहा हूँ जिससे मेरा पेट भरा रहता है। कुदरत ने मुझे बहुत लम्बी आसमान की चादर दे रखी है और चलने फिरने के लिये मेरे पैर हैं, अब मुझे और किसी चीज की जरूरत नहीं है। यदि तुझे देना ही है तो मेरे पास बैठजा मै बताऊँगा उसे दे देना।

थोड़ी देर में मोटर में बैठा हुआ एक महाशय आया जिसे देखकर साधु ने उस गृहस्थ को इशारा किया कि इसको दे दो। गृहस्थ—मैं मेरी ये चीजें किसी गरीब को दे देना चाहता था, स्वामी जी ने कहा, यह मोटर में बैठा जा रहा है सो गरीब है इसे दे दो। इसलिये आपको दे रहा हूँ ऐसा कह कर उसकी गोद में रखने लगा तो वह चौंक उठा और नीचे उतर कर साधु जी के पास आ, नमस्कार पूर्वक बोला-स्वामिन्! आपने मुझे गरीब कैसे समझा? देखिये मेरे पास यह एक ही मोटर नहीं और भी कई मोटरें हैं। घोड़ा गाड़ी, टम टम भी है, दश खत्तियाँ अनाज की भर कर रखता हूँ जो कि फसल पर भर ली जाती हैं और फिर तेजो होने पर वेचकर खलास करली जाती हैं। एक सराफे की दुकान चलती है जिसमें पाकिस्तान से ले आया हुआ सोना खरीद कर रखा जाता है और वह दो रुपये तोला सस्ते में अपने ग्राहकों को दिया जाता है ताकि दुकान खूब अच्छी चलती है। लोग समझते हैं कि पाकिस्तान का सोना खरीदना और वेचना बुरी बात है। परन्तु मैं तो जानता हूँ कि इसमें कौनसी बुराई है? गैर देश का माल अपने देश में आता है एवं यहाँ के लोगों को सस्ते में मिल जाता है सो यह तो वहुत अच्छी बात है। अगर कोई सरकारी निरीक्षक आया तो उसकी जेब गरम कर दी जाती है, काम वेखटके चलता है। एक कपड़े की दुकान है जिसमें खादी वगैरह मोटा कपड़ा न वेचा जाकर फैशनी वारीक कपड़ा ही वेचा जाता है ताकि मुनाफा अच्छा बैठता है। अब एक कपड़े की मिल खोलना चाहता हूँ जिसमें दो करोड़ रुपये लगेंगे। सो एक करोड़ रुपये तो मेरे दानेश्वरसिंह की तरफ

हैं। यद्यपि वह इस समय देना नहीं चाह रहा है परन्तु मेरा भी नाम शोषणसिंह है। उसने महा विद्यालय, अनाथालय आदि संस्थायें खोल रखी है जो कि उसके नाम से चलती हैं। मैं कचहरी जाता हूं नालिस करके उनकी संस्थाओं की इमारत को कुड़क करवाकर वसूल कर लूँगा। बाकी एक करोड़ रुपयों के शेयर वेचकर लिये जावेंगे। इस पर साधुजी ने कहा कि इसीलिये मैं तुमको गरीब बतला रहा हूं। तुम्हें पैसा प्राप्त करने की बहुत ज्यादा जरूरत है। ताकि किसी सज्जन के द्वारा स्थापित की हुई पारमार्थिक संस्थाओं को नष्ट-भ्रष्ट करके भी अपनी हवस पूरी करना चाहते हो, एवं अन्नादि का अनुचित संग्रह करके भी पैसा बटोरने की धुन रखते हो।

(५४) परिग्रह ही सब पापों का मूल है।

मनुष्य अपने पतनशील शरीर को स्थायी बनाये रखने के लिये इसे हृष्ट पुष्ट कर रखना चाहता है। अतः जिन चीजों को इस शरीर के पोषण के लिये साधनस्वरूप समझता है उन्हे अधिक से अधिक मात्रा में संग्रह कर रखने का और जिनको उसके बाधक समझता है उन्हें दूर हटाने के लिये एडी से चोटी तक का पसीना बहा देने में संलग्न हो रहने का अथक प्रयत्न करता है। इसी दुर्भाव का नाम ही परिग्रह है। अर्थात् इस शरीर के साथ मोह और शरीर की सहायक सामग्री के साथ ममत्व होने का नाम परिग्रह है। जिसके कि वश में हुआ यह शरीरधारी सब कुछ करता है। व्यभिचार में फँसता है, चोरी करता है, झूठ बोलता है और अपने पराये को कष्ट देने में प्रवृत्त हो रहता है।

पुरातनकाल में लोग अपने जीवन निर्वाह के योग्य वस्तुओं को अपने शारीरिक परिश्रम से सम्पादित करते थे, उन्हीं से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेते थे। एक आदमी एक काम करता तो दूसरा आदमी किसी दूसरे काम में दिलचस्पी लेता था। इस प्रकार अपनी आवश्यक चीजों को अपने वर्ग से प्राप्त करते रह कर परस्पर प्रेम और सन्तोषपूर्वक एक परिवार का सा जीवन विताया जाया करता था। जिसमें स्वार्थपूर्ति के साथ २ परमार्थ की भावना भी जीवित रहती थी। यदि कहीं विभिन्न वर्ग के व्यक्ति से भी कोई चीज लेनी होती थी तो चीज के वदले चीज देकर ली जाती थी। जैसे एक जूतों की जोड़ी का मूल्य पांच सेर अनाज, एक गेहूँ की वोरी का मूल्य दो वकरियाँ, एक चादर का दाम एक भेड़ किन्तु आवश्यकता प्रधान थी, विनिमय गौण। धीरे धीरे विनिमय के लाभ को पहचान कर अधिक उत्पादन का प्रयत्न होने लगा। विनिमय आगे वढ़ा, नाना परिवारों की भांति गांवों, शहरों, प्रांतों और देशों में परस्पर व्यवसाय होने लगा। एवं फिर उत्पादन का ध्येय ही व्यवसाय हो गया। उसमें सहूलियत पाने के लिये मुद्राओं को जन्म दिया गया। हर प्रकार के व्यवसाय का मूल सूत्र अब मुद्रा वन गई। सुगमता यहाँ तक वढ़ी कि जेव में एक पैसा भी न होकर लाखों करोड़ों का व्यापार सिर्फ जवान पर होने लगा।

मनुष्य ने जिसे एक साधन के रूप में स्वीकार किया था वही साध्य होकर आज उसके सिर पर चढ़ वैठा है। जिसके पास पैसा, वही दर्शनीय जैसा, वाकी तो कोई वैसा न ऐसा, जैसी वातें

कही जाने लगी हैं। प्रायः सभी के दिल में यही समाई हुई है कि उचित या अनुचित किसी भी मार्ग से पैसा प्राप्त किया जावे।

सोचने का विषय यह कि वह अर्थ है क्या चीज, जिसको मनुष्य ने इतना महत्व दे रखा है ? वह है मनुष्य की अपनी कल्पना का विषय। इसके सिवाय और कुछ भी नहीं। मनुष्य ने पहले सोने को मान्यता दी तो उसके सिक्के बने, फिर चांदी के, उसके बाद चमड़े के किन्तु अब कागज का नम्बर आ गया है। यदि मनुष्य अपने विचारों में लोहे को उतना महत्व देने लगे जितना कि वह सोने को दे रहा है तो लोहा सोना बन जावे और सोने को मिट्टी जितना महत्व दे तो सोना मिट्टी के बराबर बन जाता है। खैर।

आज का मानव केवल पैसे का उपासक बना हुआ है। मानता है कि पैसे से ही सब काम चलता है अतः किसी भी उपाय से पैसा प्राप्त किया जावे। वह भी इतना हो तो बहुत ठीक जिससे कि मैं सबसे अधिक पैसे वाला कहलाऊँ, बस इसी विचार से अनेकों की आजीविका के ऊपर कुठाराघात करके भी अपने आपका ही खजाना भरना चाहता है। आज अनेक मिल और फैक्ट्रियाँ खुलती है। उनमें क्या होता है ? लाखों आदमियों का काम एक मशीन से ले लिया जाता है। उसकी आय एक श्रीमान् के यहाँ आकर जमा हो जाती है। हाँ, उनमें हजार पांच सौ आदमी जरूर काम पर लगते हैं। वह भी जहाँ लाखों का पेट भर सकता था वहाँ सिर्फ इने गिने आदमियों की पेटपूर्ति का कारण हो रहता है एवं उन काम करने वालों का भी स्वास्थ्य उस मशीन के अथक परिश्रम से खराब

हो रहता है। परन्तु जो लोग स्वयं उससे धन कमाकर इकट्ठा करना चाहते हैं उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं। इसीलिये तो आज बेकारी बढ़ती चली जा रही है। जो विधवा बहिनें कपास की चरखियाँ चलाकर, चरखे के द्वारा सूत कातकर अपना पेट पालती थीं या किसी श्रीमान् का पीसना पीस कर अपनी भूख मिटाती थीं, वे सब आज बिना धन्धे के भूखों मर रही हैं।

कोई सेठ साहूकार किसी को नौकर भी रखता है तो इसीलिये कि इसके द्वारा मेरा कारोबार चलेगा, जो इसको वेतन दूंगा मुझे इसके द्वारा अधिक आमदनी होगी। नौकर भी यही सोचता है कि चलो ये मुझे जो नौकरी देते हैं मैं अभी किसी भी दूसरे रास्ते से उतनी प्राप्ति नहीं कर सकता हूँ इसलिये अभी तो यहीं रहना चाहिये और किसी दूसरे काम की निगाह करते रहना चाहिये जहाँ कोई इससे भी अधिक प्राप्ति का मार्ग हाथ आया कि इसको छोड़ दूंगा। 'गुरु चेला लालची दोनों खेलें दाव' वाली कहावत चलती है। स्वामी और सेवकपन का आदर्श बिल्कुल लुप्त हो गया है, सिर्फ पैसे से यारी है। जिधर देखो उधर यही हाल है। अपनी धन संग्रह की भावना को पोषण देते हुये पर-परिशोषण ही जगाया जा रहा है। पैसे के द्वारा जो चाहे सो कर लिया जाता है और अपनी शान बताई जाती है। इधर सब बातें तो रहने दीजिये आज तो शासन सत्ता भी पैसे के आधार पर ही चलती देखी जा रही है। जब मतदान का अवसर आया और आपके पास नोट हों उनको बखेर दीजिये और अपने पक्ष में वोट ले लीजिये। फिर क्या ? सत्ताधीश हो रहिये एव फिर जो नोट आपने

फैंके थे उससे कई गुणे नोट थोड़े ही दिनों में बटोर लीजिये। हाय भारत माता! तेरी सन्तान की आज क्या दशा हो गई है! जहाँ राजा और प्रजा में पिता पुत्रवत् सौहार्द्र भाव था वहाँ आज यह दशा देखने को मिल रही है इस पैसे के प्रलोभन में आकर। राज्य शासक प्रजा का सर्वस्व हड़प जाना चाहते हैं तो प्रजा राज्य को नष्ट कर देने के लिये कमर कस रही है। आज से करीब बाइस सौ वर्ष पूर्व ईरान से आकर सिकन्दर महान ने भारत पर आक्रमण किया था तो पौरुष राजा से उसकी मुठभेड़ हुई। यद्यपि विजय सिकन्दर के हाथ लगी फिर भी पौरुष की वीरता को देखकर सिकन्दर को बड़ी प्रसन्नता हुई। दोनों एक जगह बैठ कर परस्पर बातें कर रहे थे। इतने में ही दो आदमी और आये जो बोले कि आप दोनों महानुभाव विराज रहे हो हम दोनों का एक झगड़ा मिटा दीजिये। उन आगन्तुकों में से एक ने कहा कि मैंने इनसे कुछ जमीन मोल ली। उसे खोदते हुए वहाँ पर कुछ स्वर्ण निकला है, मैंने इससे कहा यह सब स्वर्ण तो आपका है आप लीजिये, मैंने तो सिर्फ आप से जमीन खरीदी है ना कि यह स्वर्ण, इस पर यह कहते हैं कि वाह! जब मैंने तुम्हें जमीन दी तो फिर यह स्वर्ण जो कि उस जमीन में से निकला है उससे पृथक् थोड़े ही रह गया। यह सुनकर सिकन्दर से पौरुष बोला कि इसका इन्साफ आप करें। किन्तु सिकन्दर ने कहा—नहीं, यह सब प्रजा आपकी है। यह प्रान्त भी आपका है। आप ही यहाँ के राजा हैं। मैंने सिर्फ आपको अपने दो हाथ दिखाये हैं। मेरा यहाँ कुछ नहीं, है सो सब आपका है। इसलिये आप ही इसका निबटारा कीजिये।

क्षण भर विश्राम लेकर पौरूष ने उस प्रार्थना करने वाले से कहा कि भाई आपके कोई सन्तान नही है ? तो जवाब मिला कि मेरे एक लड़की है और इनके एक लड़का। पौरूष ने कहा कि उन दोनों का आपस में विवाह कर दो और यह सोना उनको दहेज के रूप में दे दो। इससे वे दोनों तो बड़े खुश हुये किन्तु सिकन्दर ने कहा आपने यह क्या किया ? यह सब माल तो सरकार के योग्य था। पौरूप ने कहा " अब भी तो वह सरकार का ही तो है। " वल्कि जो भी प्रजा के पास मे धन माल है वह सरकार का ही है। प्रजा भी सारी सरकार की ही है। सरकार उससे जब जो चाहे ले सकती है। मेरी समझ में प्रजा उसके देने में कुछ आगा पीछा नहीं सोचेगी। सिकन्दर को इस पर विश्वास नहीं हुआ वह बोला कि मैं इसको देखना चाहता हूँ। पौरूष ने ढिंढोरा पिटवा दिया कि सरकार को जरूरत है, जिसके पास जितना सोना हो यहाँ लाकर रख देवे। शाम तक अपने २ नाम की चिट लगा कर जिसके पास जो सोना था वहाँ लाकर डाला गया। बहुत बड़ा ढ़ेर लग गया। सवेरा होते ही जो सोने का पर्वत सरीखा ढेर और राजा तथा प्रजा में इस प्रकार का उदारतापूर्ण व्यवहार देखा तो सिकन्दर अचम्भे में आ गया और बोला कि धन्यवाद है आपको तथा आपकी प्रजा को। मैंने ऐसे सन्तोषपूर्ण लोगों को कष्ट दिया इसका मुझे पूर्ण पश्चात्ताप है।

लोगों को यह कह दिया गया कि अभी कोई जरूरत नही है अतः अपना २ सोना वापिस ले जाओ तो सबने ठीक अपने २ नाम का सोना बड़ी शान्ति के साथ ले लिया। विचार का विषय

है कि उस समय की बात और आज की बात में कितना अन्तर है, कहाँ वह प्रकाशमय दिन था जो कि लोगों को सन्मार्ग पर स्थिर किये हुये था और कहाँ आज अन्धकारपूर्ण रात्रि है जिसमें कि लोग दिग्भ्रान्त होकर इधर उधर टक्कर खा रहे है।

(५५) न्यायोपात्त धन।

ऊपर बताया गया है कि परिग्रह अनर्थ का मूल है और धन है वह परिग्रह है। अतः वह त्याज्य है परन्तु याद रहे कि इसमें अपवाद है क्योंकि पारिवारिक जीवन बिताने वाले गृहस्थों को अभी रहने दिया जाय, उनका तो निर्वाह विना धन के हो ही नहीं सकता परन्तु मैं तो कहता हूँ कि परिवार से दूर रहने वाले त्यागी तपस्वियों के लिये भी किसी न किसी रूप मे वह अपेक्षित ठहरता है क्योंकि उनको भी जब तक यह शरीर है तब तक इसे टिका रखने के लिये भोजन तो लेना पड़ता ही है जो कि धन के आधार पर निर्धारित है। यह बात दूसरी है कि उनका देश काल उन्हें स्वय धनोपार्जन करने को नहीं कहता है। उन्हे तो गृहस्थ अपने परिश्रम से उपार्जन किये हुये धन के द्वारा सम्पादित अन्न में से श्रद्धापूर्वक जो जितना कुछ दे उसी पर निर्वाह करना होता है। परन्तु गृहस्थ जीवन उससे विपरीत होता है उसे उसके अपने परिवार के एवं अपने आपके भी निर्वाह को ध्यान में रख कर चलना पड़ता है। अतः उसके लिये धन को आवश्यक मानकर न्यायपूर्वक कमाई करने की आज्ञा है। न्यायवृत्ति का सीधा सा अर्थ होता है उचित रीति से शारीरिक परिश्रम करना। उससे जो भी लाभ हो उसमें

से कुछ एक भाग से बाल, वृद्ध, रोगी, त्यागी, और प्राघूर्णिक की सेवा करके शेष बचे हुए से अपना निर्वाह करना एवं आय से अधिक व्यय कभी नहीं करना।

धन्यकुमार चरित्र में किसान हल जोत कर अपने विश्राम स्थल पर आता है और उसकी घरवाली उसके लिये भोजन लाकर देती है तो वह कृषक धन्यकुमार को भी खाने के लिये कहता है कि आइये कुमार! भोजन कीजिये। जवाब मिलता है कि आप ही खाइये, मैं तो मेहनत किये विना नहीं खा सकता। यदि आप मुझे खिलाना ही चाहते हैं तो मुझ से अपना कुछ काम ले लीजिये। इस पर लाचार होकर किसान को धन्यकुमार से हल जोतने का काम लेना पड़ा। क्योंकि उसे खिलाये बिना वह भी खा नहीं सकता था और धन्यकुमार उसका काम किये बगैर कैसे खाये। अतः धन्यकुमार ने प्रसन्नतापूर्वक हल जोतने का कार्य किया। मतलब यह कि न्याय-वृत्ति वाला मनुष्य किसी से मांगना तो दूर रहा वह तो किसी का दिया हुआ भी लेना ठीक नहीं समझता। वह तो आप पर भरोसा रखता है। इसी धन्यकुमार की स्त्री सुभद्रा जब इसे ढूंढने के लिये अपने सास ससुर के साथ निकलती है और मार्ग में लुटेरों से पाला पड़ जाता है, लुट जाते हैं तो फिर जाकर जहाँ तालाब खुद रहा था वहाँ पर मिट्टी खोद कर डालने के काम में लगते हैं। मालिक आकर देखता है तो कहता है कि ये लोग इतना परिश्रम क्यों कर रहे हैं। मिट्टी खोद कर क्यों फैंक रहे हैं। ये सब लोग तो हमारे अतिथि हैं मेरे घर पर चलें और आराम से रहें। ऐसा भी न करें तो भी कम से कम इतना तो अवश्य करें कि जिन २

चीजों की आवश्यकता हो मेरे यहाँ से मंगा लेवें। इस पर सुभद्रा ने कहा कि मिट्टी खोद कर डालना तो हमारा कर्त्तव्य है, श्रम कर खाना यह तो मनुष्य की मनुष्यता है किन्तु किसी के यहाँ से यों ही ले आना यह तो गृहस्थ जीवन का कलंक है, घोर अपराध है। हम लोग ऐसा कैसे कर सकते हैं ?

(५६) दूसरे की कमाई खाना गृहस्थ के लिये कलंक है।

यह बात है भी ठीक क्योंकि कमाई करने के योग्य होकर भी जो दूसरे की ही कमाई खाता है वह औरों को भी ऐसा ही करने का पाठ सिखाता है एवं जब और सब लोग भी ऐसा ही करने लग जावें तो फिर कमाने वाला कौन रहे ? ऐसी हालत में फिर सभी भूखे मरें, निर्वाह कैसे हो ? इसीलिये न्यायवृत्ति वाला महानुभाव औरों की कमाई की तो बात ही क्या ? खुद अपने पिता की कमाई पर भी निर्भर होकर रहना अपने लिये कलंककी बात मानता है। जैसा कि :—

उत्तमं स्वार्जितं वित्तं मध्यमं पितुरर्जितं।
अधमं भ्रातृवित्तं स्यात्स्त्रीवित्तं चाधमाधमं ॥१॥

इस नीति वाक्य से स्पष्ट होता है और इस विषय में उदाहरण हमारे पुरातन साहित्य में बहुतायत से मिलते हैं। एक शाहजहाँ नाम का मुसलमान बादशाह हो गया है। उसकी बेगम नूरजहाँ अपने हाथों से खाना बनाया करती थी। एक रोज रोटियाँ

बनाते समय उसके हाथ जल गये। फिर भी वह उसी प्रकार रोज खाना बनाती रही किन्तु एक दिन उसके हाथों में पीड़ा अधिक बढ़ गई जिससे रोटी बनाने में वह बहुत कष्ट अनुभव करने लगी। बादशाह जब खाना खाने के लिये आया तो वह रो पड़ी, बादशाह ने पूछा क्या बात है ? रोती क्यों हो ? बेगम बोली आप ही देख रहे हो मेरे हाथों में पीड़ा बहुत है जिससे रोटियाँ बनाने में अड़चन पड़ती है। कम से कम जब तक मेरे हाथ ठीक न हो पायें तब तक एक बान्दी का प्रबन्ध कर दें ताकि वह खाना बना दिया करे। जवाब मिला कि बात तो ठीक है परन्तु अगर बान्दी रखी जाय तो उसे उसका वेतन कहाँ से कैसे दिया जावे ? बेगम ने आश्चर्य से कहा बादशाह सलामत यह आप क्या कह रहे हैं जब कि आपके अधिकार में दिल्ली की बादशाहत है फिर भला आपके पास पैसों की क्या कमी है ? खजाने भरे पड़े हैं। बादशाह बोला कि खजाने में जो पैसा है वह तो पिता की दी हुई धरोहर है जो कि प्रजा के उपयोग की चीज है, उस पर मेरा जाति अधिकार क्या हो सकता है ? मैं तो एक रूमाल रोजमर्रा तैयार कर लेता हूँ, उसकी आय से मेरा और तुम्हारा गुजर बसर होता है वही मेरी सम्पत्ति है।

(५७) न्यायोचित वृत्ति

सबसे पहले तो यह है कि जमीन में हल जोतकर अन्न पैदा किया जाय, वह इसी विचार से कि मैंने जिसका अन्न कर्ज लेकर खाया है वह ब्याज बाढ़ी सुदा चुका दिया जावे एवं बाल बच्चों सहित मेरा उदर पोषण हो जावे और द्वार पर आये हुये अतिथि

का स्वागत भी हो जावे। हाँ कहीं—मैं खेती तो करता हूँ परन्तु इसमें उत्पन्न हो गया हुआ अन्न तो अधिकांश उसी के यहाँ चला जावेगा जिसके यहाँ का अन्न मैंने पहले से लेकर खा रखा है। ठीक तो जब हो कि वह मर जावे ताकि मुझे उसे न देना पड़े और सारा अन्न मेरे ही पास में रह जावे जिससे कि मैं अन्नाधिपति बन कर भूतल पर प्रतिष्ठा पाऊँ, इस तरह का विचार आ गया तो वह खेती करना अन्यायपूर्ण हो जाता है।

खेती दुनियाँ के लोगों की परमावश्यक वस्तुओं को उत्पन्न करने वाली है। अतएव खेती करना अपना कर्तव्य समझकर उसे तरक्की देना, अच्छी से अच्छी खेती हो, ज्यादा से ज्यादा अन्न और भूसा पैदा हो इसकी कोशिश करना, उसे हर तरह की विघ्न बाधाओं से बचाये रखने की चेष्टा करना यह तो एक भले किसान का कर्तव्य होता है। मगर मेरी खेती को चर जाने वाले ये बन्दर हिरण वगैरह पैदा ही क्यों हुए ? ये अगर नष्ट हो जावें, दुनियाँ में इनकी सत्ता ही न रहे तो अच्छा हो। इस प्रकार की संकीर्ण भावना रखना सो कृषकता का दूषण है। क्योंकि दुनियाँ तो प्राणियों के समूह का नाम है जिसमें सभी प्राणी अपना अपना हक रखते हैं। अपनी २ जगह सभी सार्थक हैं फिर भला यह कौनसी समझदारी है कि मनुष्य अपने स्वार्थ के वश होकर औरों का सत्यानाश चाहे। मनुष्य को तो चाहिये कि अपने कर्तव्य का पालन करे, होगा तो वही जो कि प्रकृति को मंजूर है। यहाँ पर हमें एक बात का स्मरण हो आता है जो कि चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज के गृहस्थ जीवन की है।

श्री शान्तिसागरजी महाराज का जन्म पटेल घराने में हुआ था। जिसका परम्परागत धन्धा खेती करना था। उनके पिता ने उन्हें खेती की रखवाली करने पर नियत किया। अतः पिता की आज्ञा से आप रोज खेत पर जाया करते थे। एक दिन एक बिजार आया और उनके खेत में चरने लगा। कुछ देर में उन्होंने उसे निकालकर दूर हटा दिया मगर थोड़ी देर बाद फिर उन्हीं के खेत में चरने लगा। एवं वह अभ्यासानुसार रोज वहीं आकर चरने लगा। कुछ दिन बाद उनके पिता खेत पर आये और देखा तो बिजार चर रहा है खेत में। देखकर पिता बोले भैया तुम क्या रुखाली करते हो ? देखो! बिजार खेत को बिगाड़ रहा है। जवाब मिला कि पिताजी! मैं क्या करूँ ? मैं तो इसे बहुत निकालता हूँ मगर यह बार बार यहीं पर आ जाता है। क्या बात है ? दुनियाँ में धन सीर का है इसके हिस्से का यह भी खा जावेगा, अपना है सो रह जावेगा। पिता ने अपने मन में कहा बड़ा अजीब लड़का है। खैर, सुना जाता है कि वहाँ और सालों से भी अधिक अन्न उत्पन्न हुआ। ठीक है नेक नीयत का फल सदा अच्छा ही होता है। मगर कच्चे दूध से पोषण पाये हुए इस मानव को विश्वास भी तो हो। यह तो समझता है कि मेरी मेहनत से जो कुछ भी कमाता हूँ वह सब मेरा है। उसमें दूसरे का क्या हक है ? मैं किसी दूसरे के धन को न हड़प जाऊँ यही बहुत है। परन्तु मेरे धन में से दूसरा कोई एक दाना भी कैसे खा सकता है ? बस इस खुदगर्जी की वजह से ही यह अपने कार्यों में पूर्णरूप से सफल नहीं हो पाता है। प्रत्युत कभी २ तो इसको लाभ के स्थान पर नुकसान भुगतना पड़ता है।

(५८) महाराजा रामसिंह ।

महाराजा रामसिंह जयपुर स्टेट के एक प्रसिद्ध भूपाल हो गये हैं। जो कि एक वार घोड़े पर वैठकर अकेले ही घूमने को निकल पड़े। घूमते घूमते वहुत दूर जंगल में पहुँच गये तो दोपहर की गर्मी से उन्हें प्यास लग आई। एक कुटिया के समीप पहुँचे जिसमें एक वुढ़िया अपनी टूटी सी चारपाई पर लेटी हुई थी। वुढ़िया ने जव उन्हें अपने द्वार पर आया हुआ देखा तो वह उनके स्वागत के लिये उठ वैठी और उन्हें आदर के साथ चारपाई पर वैठाया। राजा वोले कि माताजी मुझे वड़ो जोर से प्यास लग रही है। अतः थोड़ा पानी हो तो पिलाइये। वुढ़िया ने अतिथि सत्कार को दृष्टि में रखते हुए उन्हें निरा पानी पिलाना उचित न समझा। इसलिये अपनी कुटिया के पीछे होने वाले अनार के पेड़ पर से दो अनार तोड़कर लाई और उन्हें निचोड़ कर रस निकाला तो एक डवल गिलास भर गया जिसे पीकर राजा साहव तृप्त हो गये। कुछ देर वाद उन्होंने वुढ़िया से पूछा—तुम इस जंगल में क्यों रहती हो तथा तुम्हारे कुटुम्व में और कौन हैं? जवाव मिला कि यहाँ जङ्गल में भगवान भजन अच्छी तरह से हो जाता है। मैं हूँ और मेरे एक लड़का है जो कि जलाने के लिये जङ्गल में से सूखी लकड़ियाँ काट लाने को गया हुआ है। यह जमीन जो मेरे पास वहुत दिनों से है पहले ऊसर थी अतः सरकार से दो आने वीघे पर मुझे मिल गई थी। जिसको भगवान के भरोसे पर परिश्रम करके हमने उपजाऊ वनाली है। अव इसमें खेती कर लेते हैं जिससे

हम दो माँ बेटों का गुजर बसर हो जाता है एव आए हुए आप सरीखे पाहुणे का अतिथि सत्कार बन जाता है। यह सुन राजा का मन बदल गया, सोचने लगे ऐसी उपजाऊ जमीन और दो आने बीघे पर छोड़ दी जावे ? बस फिर क्या था उठकर चल दिये और जाकर दो रुपये बीघे का परवाना लिखकर भेज दिया। अब थोड़े ही दिनों में अनार के जो पेड़ उस खेत में लगाये हुये थे वे सब सूखे से हो गये और वहाँ पर अब खेती की उपज भी बहुत थोड़ी होने लगी। बुढ़िया बेचारी क्या करे लाचार थी। कुछ दिन बाद महाराज रामसिह फिर उसी प्रकार घोड़े पर सवार होकर उधर से आ निकले। बुढ़िया की कुटिया के पास आ ठहरे तो बुढ़िया उनका सत्कार करने के लिये पेड़ पर से अनार तोड़कर लाई परन्तु उन्हे विदार कर देखा तो बिल्कुल शुष्क, काने कीड़ोंदार थे। अतः उन्हे फैंक कर और जरा अच्छे से फल तोड़कर लाई तो उनमें से भी कितने ही तो सड़े गले निकल गये। तीन चार फल जरा ठीक थे। उन्हे निचोड़ा तो मुश्किल से आधा गिलास रस निकल पाया। यह देखकर महाराज रामसिह झट बोल उठे कि माताजी ! दो तीन वर्ष पहले जब मैं यहाँ आया था तो तुम्हारे अनार बहुत अच्छे थे, दो अनारों में से ही भरा गिलास रस का निकल आया था। अब की बार यह क्या हो गया ? बुढ़िया ने जवाब दिया कि असवारजी! क्या कहूँ ? निगोड़े राजा की नीयत में फर्क आ गया, उसी का यह परिणाम है। उसे क्या पता था कि जिससे मैं बात कर रही हूँ वह राजा ही तो है। वह तो उन्हें एक साधारण घुड़सवार समझकर सरल भाव से ऐसा कह गई। राजा समझ गये कि बुढ़िया ने अपने

परिश्रम से जिस जमीन को उपजाऊ बनाया था उस पर तुमने अपने स्वार्थवश हो अनुचित कर थोप दिया, यह बहुत बुरा किया।

बन्धुओं! जहाँ सिर्फ जमीनदार की बुरी नीयत का यह परिणाम हुआ वहाँ आज जमीनदार और काश्तकार दोनों ही प्रायः स्वार्थवश हो रहे हैं। ऐसी हालत में जमीन यदि अन्न उत्पन्न करने से मुँह मोड़ रही है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? हम देख रहे हैं कि हमारे बाल्यजीवन में जिस जमीन में पच्चीस-तीस मन बीघे का अन्न पैदा हुआ करता था वही आज प्रयत्न करने पर भी पाँच छः मन बीघे से अधिक नहीं हो पाता है। जिस पर भी आये दिन कोई न कोई उपद्रव आता हुआ सुना जाता है। कहीं पर टिड्डियाँ आकर खेत को खा गई तो कहीं पानी की बाढ़ आगई या पाला पड़कर फसल नष्ट हो गई इत्यादि यह सब हम लोगों की ही दुर्भावनाओं का ही फल है। यदि हम अपने स्वार्थ को गौण करके सिर्फ कर्तव्य समझकर परिश्रम करते रहें तो ऐसा कभी नहीं हो सकता।

(५९) हमारी आँखों देखी बात।

एक बहिनजी थीं जिसके विचार बड़े उदार थे। उसके यहाँ खेती का धन्धा होता था। सभी आवश्यक चीजें प्रायः खेती से प्राप्त हो जाया करती थीं। अतः प्रथम तो किसी से कोई चीज लेने की वहाँ जरूरत ही नहीं होती थी, फिर भी कोई चीज किसी से लेनी हो तो बदले में उससे भी अधिक परिमाण की कोई दूसरी चीज अपने यहाँ की उसे दिये बिना नहीं लेती थी। वह सोचती थी कि मेरे यहाँ की चीज मुझे जिस तरह से प्यारी है उसी प्रकार

दूसरे को भी उसकी अपनी चीज मुझ से भी कहीं अधिक प्यारी लगती है। हाँ, जब कोई भी भाई आकर उसके पास मांगता था कि बहिनजी क्या आपके पास गेहूँ हैं? यदि हो तो दो रुपये के मुझे दे दीजिये। इस पर वह बड़ी प्रसन्नता के साथ गेहूँ उसे दे देती मगर रुपये नहीं लेती थी। कहती थी भाईजी रुपये देने की क्या जरूरत है? ये गेहूँ आपके और मैं आपकी बहिन। आज आप मुझ से ले जाते हैं तो कभी यदि मुझे जरूरत हुई तो मैं आपसे ले आ सकती हूँ। मैं रुपये तो आप से नहीं लेऊँगी आप गेहूँ ले जाइये और अपना काम निकालिये। आप मुझे रुपये दे रहे हैं इसका तो मतलब यह कि अपना आपस का भाईचारा ही आज से समाप्त करना चाहते हैं, मैं इसको अच्छी बात नहीं समझती, इत्यादि रूप से वह सभी के साथ वात्सल्यपूर्ण व्यवहार रखती थी। अब एक वार माघ के महीने की बात है कि बादल होकर वर्षा होने लगी। आसपास के सब खेत बरबाद हो गये मगर उपर्युक्त बहिनजी के चार खेत थे उनमें किसी में कुछ भी नुकसान नहीं हुआ, इसलिये मानना पड़ता है कि हमें जो कुछ भला या बुरा भोगना पड़ रहा है, वह सब हमारी ही करनी का फल है।

(६०) शिल्प कला।

यद्यपि खाने पीने और पहनने ओढ़ने वगैरह की, हमारे जीवन निर्वाह योग्य चीजें सब खेती करने से प्राप्त होती हैं, जमीन जोत कर पैदा कर ली जाती हैं, फिर भी इतने मात्र से ही वे सब हमारे काम में आने लायक हो रहती हों सो बात नहीं किन्तु उन्हे रूपान्तर

करने से उपयोग में लाई जाती है जैसे कि खेत में उत्पन्न हुये अन्न को पीसकर उसकी रोटियाँ बनाकर खाई जाती है अथवा उसे भूनकर चबाया जाता है। कपास को चरखी में से निकालकर उसे पीन्दकर फिर उसे चर्खे से कातकर सूत बनाया जाता है और बाद में उसका करघे के द्वारा वस्त्र बुनकर पहिना जाता है। तिलों को पीलकर तेल बनाया जाता है इत्यादि सब शिल्पकला कहलाती है जो कि अनेक प्रकार की होती है। इस शिल्पकला के विकास में भी हमारे पूर्वजों ने तो अहिंसा की पुट रखी थी, एक कोल्हू में दिन भर में एक मन तिल पिलते थे, जिसमें कम से कम एक बैल और एक आदमी लगकर उनके निर्वाह का ध्यान होता था, आज की दशा उसके बिल्कुल विपरीत है। आज इसके लिये पशु की तो कोई जरूरत ही नहीं समझी जाती, मिलों में लोहे को मशीन से कई मन तिल एक ही आदमी के द्वारा फोड़ डाले जाते हैं। आज प्रायः हर एक बात में हर जगह ऐसा होता हुआ देखा जाता है जहाँ कि पैसे से पैसा बटोरा जाता है जो कि एक श्रीमान के यहाँ आकर इकट्ठा हो जाता है और सब भाई बहिन बेकार होकर भूखे मरने लग रहे हैं। इस प्रकार आज का शिल्प आम प्रजा के लिये जीवनोपाय न रहकर जीवन घातक बनता चला जा रहा है। शिल्प को बोलचाल की भाषा में दस्तकारी कहते हैं जिसका अर्थ होता है हाथ से काम करना परन्तु आज तो वही सारा काम हाथ से न किया जाकर लोह यन्त्रों से लिया जा रहा है। जिससे विकीरण तो अधिक मात्रा में होता है और आवश्यक वस्तुयें भी सुलभ से सुलभतर होती चली जा रही हैं एवं इसी प्रलोभनवश आज के

लोग प्रसन्नतापूर्वक इसी मार्ग को अपना रहे हैं। फिर भी जरा गहराई से सोचकर देखा जावे तो इसमें देश की महती क्षति हो रही है। उदाहरण के तौर पर जब कि मुद्रणालय नहीं थे, लोग हस्तलिखित पुस्तकों से काम लेते थे तो प्रायः आदमी लिखने का अभ्यासी था और अपनी पुस्तक को बड़ी सावधानी के साथ रखता था। एक पुस्तक से ही वर्ष दो वर्ष तक ही नहीं सैंकड़ों हजारों वर्षों तक काम निकलता था तथा जो जिस विद्या को पढ़ लेता था उसे अवश्य याद रखता था। आज स्वयं लिखने का तो काम ही उठ गया, जब जरूरत हुई मुद्रणालय से पुस्तक खरीद ली जाती हैं। प्रत्येक विद्यार्थी के लिये भिन्न २ पुस्तकें होनी चाहिये। इतनी ही बात नहीं बल्कि एक विद्यार्थी के पढ़ने के लिये जब तक कि वह पुस्तक को पढ़कर समाप्त करता है उतने समय में उसकी अनेक प्रतियाँ फटकर रद्दी बन जाती है एवं उसकी वह विद्या फिर भी पुस्तकस्थ ही रह जाती है। उसे उसका बहुत कम अंश याद हो पाता है सो भी बहुत स्वल्पकालीन परीक्षा पास कर लेने तक के लिये। क्योंकि विचारधारा यह रहती है कि पुस्तक तो है ही, फिर याद रखने की क्या आवश्यकता है ? जब जरूरत होगी पुस्तक को देख लिया जावेगा। पहले जब रेल, मोटर जैसा कोई आम साधन नहीं था तो लोग पैदल चलना जानते थे। हमारे देखने में भी बाज बाज आदमी ऐसा था कि सुबह से शाम तक साठ पैंसठ मील तक की यात्रा कर लिया करता था। परन्तु जब रेल और मोटरों का आविष्कार हुआ तो लोग पैदल चलना भूल गये। जहाँ भी जाना हुआ कि बैठे रेल में या मोटर में और चल दिये। पैदल

चलना एक प्रकार का अपराध समझा जाने लगा। अपने यहाँ से कहीं पाँच मील की दूरी पर दूसरे गांव जाना हुआ, अपने गांव से रेल स्टेशन एक डेढ़ मील दूर है, उधर जिस गांव को जाना है वह भी स्टेशन से एक डेढ़ मील दूरी पर है, फिर भी रेल में बैठ कर चलना। भले ही रेल के आने में एक डेढ़ घन्टे की देर हो तो मुसाफिर खाने में बैठकर उसकी प्रतीक्षा में लगा देना मगर पैदल चलकर उस गांव नहीं पहुँचना। भले ही रेल में बैठने की जगह न हो तो हैण्डिल पकड़कर लटकते हुए ही चलना पडे एवं जब से साईकिलों का प्रादुर्भाव हुआ तब से तो और भी शोचनीय परिस्थिति हो गई। शौच को भी जाना हुआ तो साईकिल लेकर चले, मानों चलने के लिये प्रकृति ने पैर दिये ही न हों। मतलब जैसे जैसे साधन सामग्री की सुलभता होती चली गई वैसे २ मनुष्य अकर्मण्य होता जाकर प्रत्युत आवश्यकताओं से घिरता जा रहा है और जीवन शान्ति के बदले अशान्तिमय हो गया है।

(६१) व्यापार।

व्यापार शब्द का अर्थ होता है किसी चीज को व्यापकता देना यानी आवश्यकताओं से अधिक होने वाली एक जगह की चीज को जहाँ पर उसकी आवश्यकता हो वहाँ पर पहुँचा देना एवं सब जगह के लोगों के लिये सब चीजों की सहूलियत कर देना ही व्यापार कहलाता है। व्यापार का मतलब जैसा कि आजकल लिया जाने लगा है धन बटोरना, सो कभी नहीं हो सकता है किन्तु जनसाधारण के सम्मुख उसकी आवश्यक चीज को एक सरीखी दर

पर उपस्थित करना और उसमें जो कुछ उचित कमीशन कटौती मिले उस पर अपना जीवन निर्वाह करना ही व्यापार का सच्चा प्रयोजन है। उदाहरण के लिये जैसे हिन्दुस्तान टाइम्स वगैरह दैनिक समाचार पत्रों के बेचने वाले लोग घूम घूम कर बेचते हैं। डेढ़ आना या पांच पैसे जो उन पत्रों का मूल्य निश्चित किया हुआ है ठीक उसी मूल्य पर सब को देते हैं। शाम तक जितने पत्र उनके द्वारा विके, प्रति पत्र एक पैसे के हिसाब से उनको कमीशन मिल जाया करता है जिससे उन बेचने वालों का गुजारा हो जाता है और पढ़ने वालों को घर बैठे पढ़ने के लिये पत्र मिल जाता है। सीधा पत्रालय से भी पत्र लिया जाये तो भी उन्हें उतने में ही मिलेगा। अत उसकी विशेष हानि नहीं होती ताकि लेने वाले और बेचने वाले दोनों को सुभीता होता है।

आढ़तिया अपने साहूकार के माल को बाजार भाव से बेचता है या अपने ग्राहक को बाजार से परिश्रम कर माल दिलवाता है एवं लेने वाले और मालदार के बीच में विश्वास का सूत्रधार बनकर रहता है तथा उनसे उचित आढ़त लेकर उस पर अपना निर्वाह करता है तो यह व्यापार है। मगर वही आढ़तिया कहलाने वाला व्यक्ति लोभवश होकर किसी प्रकार का बीच बचाव कर खाने लगता है तो ऐसा करना पाप है, और फिर वह व्यापारी न रह कर चोर कहलाने लायक हो जाता है।

बाजार के माल को हठात् अधिक दर में खरीद कर अपने यहाँ ही इकट्ठा कर रखना, किसी प्रकार की धौंस दिखाकर अपने माल को ऊँची दर से बेचना एवं दूसरे के माल को नीची दर से

खरीदने की विचारधारा रखना, किसी एक को वही माल कम दर पर दे देना, किन्तु किसी भोले भाई से उसी के अधिक दाम ले लेना इत्यादि चोरबाजारीपन व्यापार का कलङ्क है। हॉ, बाजार में जो माल बिकते बिकते शेष बच रहा है और माल मालिक उसे बेचकर अपना पल्ला खलास करना चाहता है ऐसे माल को, कुछ साधारण से कम दर में खरीद कर अपने पास संग्रह कर रखना बुरा नहीं बल्कि अच्छा ही है, ताकि यदि कोई कल को भी उस माल लेने वाला आवे तो उसे भी आसानी से वह माल उसी साधारण दर पर दिया जा सके। इस प्रकार बाजार की सम्पन्नता बनी रहे।

(६२) उदारता का फल सुमधुर होता है।

रामपुर नाम के नगर में एक रघुवरदयाल नाम के बोहराजी रहते थे। जिनके यहाँ कृषकों को अन्न देना, जिसे खाकर वे खेती का काम करें और फसल पककर तैयार होने पर मन भर अन्न के बदले में पांच सेर, मन अन्न के हिसाब से बोहराजी को दे दिया करें बस यही धन्धा होता था। बोहराजी के दो लड़के थे, एक गौरीशंकर दूसरा राधाकृष्ण। बोहराजी के मरने पर दोनों भाई पृथक् २ हो गये और अपने २ कृषकों को उसी प्रकार अन्न देकर रहने लगे। विक्रम सम्वत् उन्नीससौ छप्पन की साल में भयङ्कर दुष्काल पड़ा। बिल्कुल पानी नहीं बरसा। जिससे अन्न का भाव बारह आने दस आने मन का था वह बढ़ कर पांच रुपये मन का भाव हो गया। गौरीशंकर ने सोचा कि अब किसानों को बाढ़ी पर अन्न देकर क्यों खोया जावे? बेच कर रुपये कर लिये

जावें। किसानों ने कहा बोहराजी ऐसा न कीजिये, इस दुष्काल के समय में हम लोग खाने के लिये दूसरी जगह कहाँ से लावेंगे? परन्तु गोरीशंकर ने इस पर कोई विचार नहीं किया। इधर राधाकृष्ण ने विचार किया कि यह अकाल का समय है, लोग अन्न के विना भूखे मर रहे हैं, तेरे पास में अन्न है। यह फिर किस काम में आवेगा? अतः उसने ढिंढोरा पिटवा दिया कि चाहे वह मेरा किसान हो या कोई और हो, जिसको भी खाने के लिए अन्न चाहिये मेरे यहाँ से ले जावे। यह देख कर गौरीशंकर ने कहा कि राधाकृष्ण वेसमझ है जोकि इस समय अपने वेशकीमती अन्न को इस तरह लुटा रहा है।

गौरीशंकर ने अपने अन्न को वेच कर रुपये खड़े करना शुरु किया किन्तु उसके यहाँ एक दिन चोरी हो गई तो उसने अपने रुपयों को जमीन में गाड़ रखा। छपनिया-अकाल धीरे धीरे समाप्त हो लिया। सत्तावन की साल में प्रकृति की कुछ ऐसी कृपा हुई कि समय समय पर उचित वर्षा होकर खेती में अनाप-सनाप अन्न पैदा हुआ, जिससे आठ सेर के भाव से वढ़ते बढ़ते अन्न का का भाव रुपये का डेढ़ मन हो लिया। गौरीशंकर ने इस समय अन्न खरीद कर रखने का मौका है यह सोच कर जमीन में से अपने रुपयों को निकालकर देखा तो रुपयों के पैसे वन गये हुये थे। तव क्या करे अपने भाग्य पर रोने लगा। उधर राधाकृष्ण का अन्न जिन्होंने खाया था, प्रसन्न मन से मन की एवज में दो मन अन्न ले जाकर उसके यहाँ जमा कराने लगे ताकि अन्न की टाल लग गई।

(६३) पशु पालन

सुना जाता है कि एक न्यायालय में न्यायाधीश के आगे पशुओं में और मनुष्यों में परस्पर में विवाद छिड़ गया। मनुष्यों का दावा था कि पशुओं की अपेक्षा से हम लोगों का जीवन बहुमूल्य है। पशुओं ने कहा कि ऐसा कैसे माना जा सकता है बल्कि कितनी ही बातों को लेकर हम सब पशुओं का जीवन ही तुम्हारी अपेक्षा से अच्छा है। देखो कि गजमुक्ता सरीखी कितनी ही वेशकीमती चीजें तुम्हें पशुओं से ही प्राप्त होती है। इसी तरह कवि लोग जब कभी तुम्हारी प्रेयसी के रूप का वर्णन करते हैं तो मृगनयनी, गजगामिनी इत्यादि रूप से पशुओं की ही उपमा देकर बताते हैं। बल पराक्रम भी तुम्हारी अपेक्षा से हम पशुओं का ही प्रशंसा योग्य माना गया हुआ है। इसीलिये जब तुम्हे बलवान बताया जाता है तो पुरुषसिंह नरशार्दूल वगैरह कह कर पुकारा जाया करता है। और तो क्या? पशु का मृत शरीर भी प्रायः कुछ न कुछ तुम्हारे काम में आता ही है! जैसे कि मृतक पशु के चमड़े के जूते बनते हैं जिन्हें पहिन कर तुम आसानी से अपना मार्ग तय कर जाते हो। तुम्हारा शरीर तो किसी के कुछ भी काम में नहीं आता बल्कि साथ में दस बारह मन लक्कड़ और दस बारह गज कपड़ा और ले जाता है। इस पर मनुष्य लोग बहुत झेंपे और अपना दावा वापिस उठाने को तैयार हो गये। तब न्यायाधीश बोला कि भाई! तुम कहते हो सो तो सब ठीक ही है परन्तु एक बात खास है जिसकी वजह से मनुष्य बड़ा और भला गिना जाता है और वह यह है कि पशुवर्ग परिश्रम-

शील हो कर भी वह अपने आपकी रक्षा का प्रबन्ध खुद नहीं कर सकता किन्तु मनुष्य में इस प्रकार की विचारशीलता है कि वह अपनी रक्षा का तथा पशु की रक्षा का भी प्रबन्ध करने में समर्थ होता है।

देखो-एक बुढ़िया थी, जिसके पास एक गाय भी रहती थी। चोमासे के दिन आये तो वर्षा होना शुरू हुई। एक दिन वर्षा ऐसी हुई कि मूसलाधार पानी पड़ने लगा। झड़ी लग गई जिससे लोग घर के बाहर निकलने में असमर्थ थे। रोज बाजार में हरी घास आया करती थी जिसे कि मोल लेकर बुढ़िया अपनी गाय को चरा लिया करती थी। मगर उस दिन बाजार में जब घास नहीं आई तो क्या हो ? पशु को क्या डाला जावे ? बुढ़िया के पास दैव गति से सूखी घास, भूसा भी न थी ताकि वही डाल कर पशु को थोड़ा सन्तोष दे लिया जावे। अतः गाय भूखी ही खड़ी रही। उसे भूखी खड़ी देख कर बुढ़िया सोच में पड़ गई। कहने लगी कि हे भगवान ! क्या करूँ ? गौ भूखी है, यह भी तो मेरे ही भरोसे पर है। यह पहले खाले तो बाद में मैं खाऊँगी ऐसा संकल्प कर वह भगवन् २ करने लगी। इतने में ही एक घसियारा आया उस बरसते हुये मेह में, और बोला कि माँजी ! क्या तुम्हें अपनी गाय के लिये घास चाहिये ? अगर हाँ तो यह लो इतना कहकर घास गाय के आगे डाल दी। बुढ़िया बहुत खुश हुई और बोली बेटा ! बहुत अच्छा किया, ले अपने घास के पैसे ले जा। माँ जी पैसे तो फिर कभी ले जाऊँगा ऐसा कहते हुये घसियारा दौड़ गया सो आज तक

नहीं आया। आता भी कहाँ से? वह कोई घसियारा थोड़े ही था वह तो उस बुढ़िया की पवित्र भावना का ही रूप था।

मतलब यह कि आश्रित के खान पान का प्रबन्ध करके स्वयं भोजन करना ही मनुष्य का कर्तव्य है जिसमें भी वह आश्रित भी यदि मनुष्य है तो वह तो अपना खाना आप कह कर भी हम से ले सकता है, परन्तु जो बेचारा स्वयं तो मूक होता है उसका तो फिक्र हमें ही करना चाहिये तभी हम मनुष्य कहलाने के अधिकारी हो सकते हैं। उसके करने योग्य परिश्रम तो उस से हम करा लेवें और खाना खिलाने के समय उसे हम भूल जावें यह तो घोर अपराध है।

(६४) अन्याय के धन का दुष्परिणाम।

एक दर्जी के दो लड़के थे जो कि एक एक टोपी रोजाना बनाया करते थे, उनमें से एक जो सन्तोषी था वह तो अपनी टोपी के दो पैसों में से एक पैसा तो खुद खाता था और एक पैसा किसी गरीब को दे देता था। एक रोज एक दो दिन का भूखा आदमी उसके आगे आ खड़ा हुआ, उस दर्जी ने जो टोपी तैयार की थी उसके दो पैसे उसके पास आये तो उनमें से एक पैसा उसने उस पास में खड़े गरीब को दे दिया। गरीब ने उस पैसे के चने ले कर खा लिये और पानी पी लिया। अब उसके दिल में विचार आया कि देखो यह दर्जी का लड़का एक टोपी रोज बना लेता है जिससे दो पैसे रोजाना लेकर अपना जीवन बड़े आनन्द से बिता रहा है। मैं भी ऐसा ही करने लगूँ तो क्यों भूखा मरूँ ऐसा सोच कर उसके

पास टोपी बनाना सीख गया और फिर अपना गुजर अपने आप करने लगा। उसके दिन अच्छी तरह से कटने लगे।

इधर उसी दर्जी का दूसरा लड़का टोपी तैयार कर रोजाना जो दो पैसे कमाता था उनमें से एक पैसा तो खुद खा जाता और १ पैसा रोज बचाकर रखता था उससे चौसठ दिन में उसके पास १ रुपया जुड़ गया, उसने उसे चिट्ठी खेल में लगा दिया संयोगवश चिट्ठी उसी के नाम से उठ गई जिससे उसके एक लाख रु० की आमद हुई अब तो उसने सोचा दिन भर परिश्रम करना और दो पैसे रोजाना कमाना इस दर्जी के मनहूस धन्धे में क्या धरा है। छोड़ो इसे और आराम से जीवन बीतने दो। इसके पड़ोस की जमीन में एक गरीब भाई झोंपड़ी बना कर रह रहा था। इसने सरकार से उसे खरीद कर वहां एक सुन्दर कमरा बनाया और अपने बाप भाई से अलहदा रहने लगा, शराब पीने लगा, वेश्याएं नचाने लगा, अपने आप घमण्ड में चूर होकर औरों को तुच्छ समझने लगा। एक रोज यह अपने भाई दर्जी के पास खड़ा था सो उसे अपनी टोपी के दो पैसों में से एक पैसा किसी गरीब को देते देख कर इसके भी विचार आया कि देखो इसने अपने दो पैसों में से ही एक पैसा दे दिया किन्तु मेरे पास इतना पैसा होकर भी मैं किसी को कुछ नहीं दे रहा हूँ। मुझे भी कुछ तो दान करना चाहिये। इतने में इसके सम्मुख एक मस्टण्डा आ खड़ा हुआ जिसे इसने अपने पाकेट में से निकाल कर पाँच अशर्फियां दे दी। उन्हें लेकर वह फूल गया कि देखो आज मेरी बड़ी तकदीर चेती। चलो आज तो शराब पीयेंगे और सिनेमा में चलेंगे। वहाँ जाते समय रास्ते

में किसी की बहू बेटी से मजाक करने लगा तो पुलिस ने पकड़ लिया और थाने में भेज दिया जिससे कि कैद कर लिया जाय। ठीक है जैसी कमाई का पैसा होता है वह वैसे ही रास्ते में लगा करता है और उससे मनुष्य की बुद्धि भी वैसी ही हो जाया करती है।

(६५) कर्त्तव्य और कार्य।

शरीर के भरण पोषण के लिये किया जाता है ऐसा खाना पीना, सोना, उठना वगैरह कार्य कहलाता है जिसे कि संसारी प्राणी चाह पूर्वक अनायास रूप से किया करता है। जो आत्मोन्नति के लिये प्रयत्न पूर्वक किया जाता है ऐसा भगवद्भजन परोपकार आदि कर्तव्य होता है। कार्य को तो इतर प्राणियों की भांति नामधारी मानव भी लगन के साथ करता है मगर वह कर्त्तव्य को सर्वथा भूले हुए रहता है। उसके विचार में कर्त्तव्य का कोई मूल्य नहीं होता परन्तु वही जब मानवता की ओर ढलता है तो कर्त्तव्य को भी पहिचाननें लगता है यद्यपि उसका चन्चल मन कर्त्तव्यों की ओर न जाकर उसे कार्यों में लगे रहने के लिये वाध्य करता है फिर भी वह समय निकाल कर हठात् अपने मन को कर्त्तव्य के साथ में जोड़ता है। भले ही उसका मन रस्से से वन्धे हुए भूखे बैल की तरह छटपटाता है और वहाँ से भागना चाहता है तो भी उसे रोक कर रखता है। इस तरह धीरे २ अभ्यास करके वह अपने मन को कर्त्तव्यों पर जमाता है तो फिर कर्त्तव्य तो उसके लिये कार्यरूप हो जाते हैं और कार्य कहलाने वाली बातें कर्त्तव्य समझ कर करने योग्य ठहरती हैं। मान लीजिये

कि एक चिरकाल का बना हुआ सच्चा साधु है वह समता वन्दना स्तवनादि आवश्यकों को नित्य ठीक समय पर सरलता के साथ करता रहता है, दिन में एक बार खाना और अपर रात्रि में जमीन पर सो लेना भी उसके लिये बताया गया है किन्तु वह तो कभी उपवास, कभी वेला, कभी तेला आदि कर जाया करता है जव देखता है कि अब तो शरीर विना भोजनादि दिये काम नही देता, इसे अब भोजन देना ही होगा, तब कभी देता है। शयन का भी यही हाल होता है कभी कुछ देर के लिये नीन्द ली तो ली, नहीं तो फिर सारी ही रात्रि भजन भाव में विता दी गई। मतलब कहने का यह कि भोजनादि के बिना भले ही रहा जा सकता है परन्तु भगवद्भजन के विना रहना किसी भी दशा में ठीक नहीं इस प्रकार इन्द्रिय एवं मनोनिग्रह रूप वृत्ति जहाँ हो रहती है वहाँ फिर खाना, पीना, सोना, उठना, चलना फिरना आदि सभी क्रियायें आत्मोन्नति के पथ में साधन रूप से स्वीकार्य होकर आदर्श रूप वन जाती है।

(६६) साधक का कार्य क्षेत्र।

भूमि तल वहुत विशाल है और इसमें नाना विचारों के आदमी निवास करते हैं, कोई बुरी आदत वाला आदमी है तो कोई कुछ अच्छी आदत वाला। एवं मनुष्य का हिसाव ही कुछ ऐसा है कि यह जैसे की संगति में रहता है तो प्रायः आप भी वैसा ही हो रहता है जिसमें भी अच्छे के पास में रह कर अच्छाई को वहुत कम पकड़ पाता है किन्तु बुरे के पास में होकर बुराई को वहुत शीघ्र ले लेता है जैसे कि उजला कपड़ा कोयलों पर गिरते

ही मैला हो जाता है परन्तु फिर वही साबुन पर गिर कर उजला बन जाता हो, सो बात नहीं। उसे उजला बनाने के लिये उसके ऊपर साबुन चुपड़ना होगा और फिर पानी से उसे धोना होगा फिर कहीं वह उजला बन सकेगा। अतः अपने आपको बुराइयों से बचाये रखने के लिये और भलाई को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को चाहिये कि वह अपना निवास स्थान भले आदमियों के सहवास में बनावे। उन्हीं के साथ में अपने लेन देन का संसर्ग स्थापित करे। ऐसे ही स्थानों में अपना आना जाना भी रखे जहाँ पर कि अधिकतर भले आदमी निवास करते हों। नशेबाज मांसखोर व्यसनी दुराचारी आदमियों का आधिपत्य होने से जहाँ जाने पर अपने भले आचार विचार में शिथिलता आती दीखे ऐसे स्थानों में जाने आने का परित्याग कर दें।

(६७) व्यर्थ के पाप पाखण्ड।

कहते हुए सुना जाता है कि पेट पापी है इसी के लिये अनेक तरह के अनर्थ करने पड़ते हैं। जबकि हाथ पैर हिला डुला कर भी मनुष्य पेट नहीं भर पाता है तो वह चोरी चकोरी करके भी अपने पेट की ज्वाला को शान्त करना चाहता है, यह ठीक है। इसी बात को लक्ष्य में रख कर हमारे महर्षियों ने स्थितिकरण अङ्ग का निर्देश किया है। यानी समर्थ धर्मात्माओं को चाहिये कि आजीविका भ्रष्ट लोगों को उनके योग्य आजीविका बताकर उन्हें उत्पथ में जाने से रोकें ताकि देश में विप्लव न होने पावे।

कुछ लोग ऐसे भी हैं कि अपने पास में खाने के लिये अन्न तथा पहनने के लिये कपड़ा अच्छी तादाद में होने पर भी धनवान

कहलाना चाहते है अतः धन वटोरने के लिये अनेक प्रकार का पापारम्भ करते हुए देखे जा रहे है। इस रोग की दवा सन्तोष है, जो कि परिग्रह परिमाण रूप दवाखाने से प्राप्त होती है, परन्तु अधिकांश पाप पाखण्ड तो प्रजा में ऐसे फैले हुए हैं जिनका हेतु सिर्फ मनोविनोद के और कुछ नहीं है अतः उन्हें हमारे महर्षियों की भाषा में अनर्थदण्ड कहा गया है। जिनको कि रोकने के लिये मन पर थोड़ा सा अंकुश लगाने की जरूरत है एवं उनके रोकने से देश को हानि के वदले बड़ा भारी लाभ है। उन अनर्थ-दण्डों को न करना और न होने देना भी उपासक का कर्त्तव्य है।

(६८) अनर्थदण्ड के प्रकार।

वात ही वात में यदि ऐसा कहा जाता है कि देखो हमारे भारतवर्ष में गेहूँ वीस रुपये मन हैं और सोना सौ रुपये तोले से विक रहा है परन्तु हम से पन्द्रह वीस कोस दूर पर ही पाकिस्तान आ जाता है जहाँ कि गेहूँ तीस रुपये मन में विक रहे हैं तो सोना पचहत्तर रु० तोला पर मिल जाता है। यदि कोई भी व्यक्ति यहाँ से वहाँ तक यातायात की दक्षता प्राप्त कर ले तो उसे कितना लाभ हो। इस वात को सुनते ही कार-व्यापार करने वाले को या किसान को सहसा अनुचित प्रोत्साहन मिल जाता है जिससे कि वह ऐसा करने में प्रवृत्त होकर दोनों देशों में परस्पर विप्लव करने वाला वन सकता है, अतः उपर्युक्त कथन पापोपदेश नाम के अनर्थदण्ड में गिना जाता है। सट्टा फाटका करने वालों को लक्ष्य करके तेजी मन्दी वताना भी इसी में सम्मिलित होता है।

छुरी, कटारी, बरछी, भाला, तलवार वगैरह हथियार बना कर हिंसक पारधी, सांसी, बावरिया आदि को देना सो हिंसा दान नाम का अनर्थदण्ड है। क्योंकि ऐसा करने से वे लोग सहज में ही प्राणियों को मारने लग जा सकते हैं। कसाई, खटीक, कलाल, जुवारी आदि को उधार देना भी इसी में गिना जा सकता है।

बे मतलब के बुरे विचारों को अपने मन में स्थान देना, किसी की हार और किसी की जीत हो जाने आदि के बारे में सोचते रहना, मान लो कि आप घूमने को निकले, रास्ते में दो मल्लों की परस्पर कुश्ती होती देख कर खड़े रह गये और मन में कहने लगे कि इनमें से यह लाल लंगोट वाला जीतेगा और पीली लंगोटी वाला हारेगा। अब संयोगवश पीली लंगोटी वाले ने उसे पछाड़ लगादी तो आपके मन को आघात पहुँचेगा। कहोगे कि अरे यह तो उल्टा होने लग रहा है। इत्यादि रूप से व्यर्थ मन की चपलता का नाम अपध्यान अनर्थदण्ड है।

जिन बातों में फँस कर मन खुदगर्जी को अपना सकता हो, ऐसी बातों के पढ़ने सुनने में दिलचस्पी लेना दुःश्रुति नाम का अनर्थदण्ड है।

जल वगैरह किसी भी चीज को व्यर्थ बरबाद करना प्रमाद-चर्या नाम का अनर्थदण्ड है। जैसे कि आप जा रहे हैं, चलते २ पानी की जरूरत हो गई तो सड़क पर की नल को खोल कर जितना पानी चाहिये ले लिया किन्तु जाते समय नल को खुला छोड़ गये जिससे पानी बिखरता ही रहा। गरमी की मौसम है। रेल गाड़ी में सफर कर रहे हैं बिजली का पंखा लगा हुआ है, हवा

खाने के लियें खोल लिया, स्टेशन आया, आप लापरवाही से उतर पड़े, पंखे को खुला रहने दिया यद्यपि डिब्बे में और कोई भी नहीं बैठा है तो पंखा व्यर्थ ही चलता रहेगा इसका कुछ विचार नहीं किया। आप एक गांव से दूसरे गांव को जा रहे हैं। रास्ते के इधर उधर घास खड़ी है किन्तु रास्ता साफ है फिर भी आप घास के ऊपर से उसे कुचलते हुए जा रहे हैं, इसका अर्थ है कि आप लापरवाही से पशुओं की खुराक को बरबाद कर रहे हैं। इत्यादि सब प्रमादचर्या नाम का अनर्थदण्ड कहलाता है।

(६६) मानवपन नपा तुला होना चाहिये।

मनुष्य जीवन पानी की तरह होता है। पानी बहता न हो-कर अगर एक ही जगह पड़ा रहे तो सड़ जाये। हाँ, वही बहता होकर भी बगल के दोनों तटों को तोड़ फोड़ कर इधर उधर तितर बितर हो जाये तो भी शीघ्र ही नष्ट हो रहे। मनुष्य भी निकम्मा हो कर पड़ा रहे तो शोभा नहीं पा सकता। उसे भी कुछ न कुछ करते ही रहना चाहिये। उचितार्जन और त्यागरूप दोनों तटों के बीच में होकर नदी की भांति बहते रहना चाहिये।

यह तो मानी हुई बात है कि खाने के लिये कमाना भी पड़ता ही है परन्तु कोई यदि विष ही कमाने लगे और उसे ही खाने लगे तो मरेगा ही, जीवित कैसे रह सकेगा। अतः विष का कमाना और खाना छोड़ कर इस तरह से कमाया खाया जाय जिससे कि जीवित रहा जा सके। मतलब यह कि कमाते खाते हुए मनुष्य को भी कम से कम इस बात का ध्यान तो रखना ही चाहिये कि ऐसा

करने में उसकी आत्मा प्रत्युत तामसता की ओर तो नहीं लुढ़कती जा रही है ? बल्कि प्रशंसायोग्य बात तो यही कही जावेगी कि कमाना खाना आदि सभी काम हमारे हमें सात्विकता की ओर बढ़ा ले जाने वाले होने चाहिये। हमारे भारत देश के वर्तमान समय के नेता श्रीमान् विनोबा भावे महाशय अपनी बुढ़ापे की अवस्था में भी लोगों को खेती का महत्व बताने के लिये स्वयं कार्य करते हैं, उसमें उत्पन्न हुए अन्न से निर्वाह करना कर्त्तव्य समझ कर सादगी से अपना जीवन बिता रहे हैं। अगर वे बैठना चाहें तो उनके लिये मोटरों पर मोटरें आकर खड़ी हो सकती हैं मगर फिर भी उन्हें जहाँ जाना होता है पैदल ही जाते है। वल्लभ भाई पटेल एक रोज अपने कमरे मे बैठे हुए कुछ आगन्तुक लोगों से आवश्यक बातें कर रहे थे। इतने में समय हो जाने पर वल्लभ भाई पटेल साहब की लड़की चाय लेकर आई जिसकी कि साड़ी कई जगह से फटी और सिली हुई थी। अतः उन आगन्तुकों में से एक बोल उठा कि बहन जी आप इस प्रकार फटी हुई साड़ी कैसे पहन रहीं है ? जवाब मिला कि नई साड़ी किसकी कहां से ले आऊं ?, आगन्तुक ने कहा कि बहन जी ! आप यह क्या कह रही हैं ? कुछ समझ में नहीं आता। आप कहें तो एक साड़ी क्या, आवे बल्कि यहाँ आकर साड़ियों की टाल लग सकती है। इस पर बहन जी तो क्या बोलती ! सुना अनसुना कर चली गई। पीछे से पटेल साहब ने कहा-कि हमारे यहाँ हाथ से सूत काता जाता है और उसका हाथ से बुना हुआ कपड़ा ही काम में लिया जाता है। वह इतना ही बन पाता है जिससे कि सारे कुटुम्ब का काम किफायतसारी के साथ में चला लिया

जा सके। ऐसा सुन कर आगन्तुक महाशय दङ्ग रह गया, सोचने लगा कि ओह! ऐसे रईस घराने का ऐसा रहन सहन! घर में मनचाही चीजें होते हुए भी सिर्फ सादा खाना और सादा पहिनना और सब कांग्रेस के लिये, परार्थजनता की सेवा के लिये। इसी को कहते हैं अमीरी में गरीबी का अनुभव करते हुए रहना। मानव जीवन हो तो ऐसा ही संतोषमय नपा तुला होना चाहिये। फैशनबाजी में फँस कर मानव जीवन को बरबाद करना तो अमृत को पैर धोने में खोना है।

(७०) शाकाहारी बनना चाहिये

जिससे शरीर पुष्टि को प्राप्त हो या भूख मिटे उसे आहार कहते हैं। वह मुख्यतया दो भागों में विभक्त होता है। शाकपात और मांस। जब हम पशुओं की ओर निगाह डालते हैं तो दोनों ही तरह के जीव उनमें पाते हैं। गाय, बैल, भैंस, ऊँट, घोड़ा, हाथी, हिरण आदि पशु शाकाहारी हैं जो कि उपयोगी तथा शान्त होते हैं परन्तु सिंह, चीता, भालू, भेड़िया आदि पशु मांसाहारी होते है जो कि क्रूर एवं अनुपयोगी होते हैं। इनसे मनुष्य सहज में ही दूर रहना चाहता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मांसाहार क्रूरता का उत्पन्न करने वाला है किन्तु शाकाहार सौम्यता का सम्पादक। मनुष्य जब कि स्वयं शान्तिप्रिय है अतः उसे मांसाहार से दूर रहकर शाकाहार से ही अपना निर्वाह करना चाहिये। आज हम देख रहे हैं कि हमारे देशवासियों की प्रवृत्ति शाकाहार से उपेक्षित होकर मांसाहार की ओर बढ़ती जा रही है। आज से कुछ

दिन पहले जिन जातियों में मांसाहारी व्यक्ति देखने को नहीं मिल रहा था वहीं पर आज वीस पच्चीस फी सदी आदमी मांस के खाने वाले मिल जावेंगे। यह भी हमारे देश के लिए दुर्भाग्य का चिह्न है जिससे कि लोग अन्नोत्पादन की तरफ विशेष ध्यान न देकर मछलियों के तथा मुर्गियों के अण्डों के उत्पादन की ही कोशिश में लगे हुए हैं। आश्चर्य तो इस बात का है कि जो देश अन्नोत्पादन का नाम नहीं जानते थे-उन देशों में तो अन्न अब कसरत के साथ में उत्पन्न होने लग गया है और जो भारत सदा से अन्नोत्पादन का अभ्यासी रहा है उसी देश के वासी आज यह कहने लगे हैं कि खाने के लिये अन्न की कमी है अतः मछलियाँ पैदा की जावे। मै तो कहता हूँ कि इस बेढङ्गे प्रचार से कहीं ऐसा न हो जावे कि हम लोग अन्नोत्पादन का रहा सहा महत्व भी भूल जावें।

सुना जाता है कि एक वार अरब देश मे वहुत भयंकर दुष्काल पड़ा। अन्न मिलना दुर्लभ हो गया अतः वहाँ के उस समय के देश नेता मुहम्मद साहव ने अपनी प्रजा को आपत्काल में मांस खाकर निर्वाह करने का आदेश दे दिया। धीरे २ लोग मांस खाने के आदी वन गये तो उनकी निगाह में अव वह मांस खाना एक सिद्धान्त सा ही हो गया। मतलब यह कि एक बार मांस खाने की लत पड़ जाने से मनुष्य उसे छोड़ने के लिये लाचार हो रहता है और अपनी आदतवश वह धीरे २ मनुष्य के मांस को भी खाने लग जा सकता है। एवं इस दुर्व्यसन का परिणाम वहुत विप्लव-कारक हो रहता है। मानव को ही घोर दानवता पर पहुँचा देता

है। अतः समझदार को चाहिये कि वह शुरू से ही इससे दूर रहे, केवल शाकाहार पर ही अपना जीवन निर्वाह करे।

(७१) दूध का उपयोग

भोले भाई ही नहीं बल्कि कुछ पढ़े लिखे लोग भी ऐसा कहते हुए पाये जाते हैं कि जो दूध पीता है वह भी तो एक प्रकार से मांस खानेवाला है, क्योंकि दूध मांस में से ही होकर आता है, फिर दूध तो पिया जाये और मांस खाना छोड़ा जाय यह व्यर्थ की बात है, उन ऐसा कहने वाले भले आदमियों को जरा सोचना चाहिये कि अन्न भी तो खाद में से पैदा होता है सो क्या अनाज को खाने वाला खाद को भी खा लेता है ? नहीं, क्योंकि खाद के गुण, धर्म कुछ और है तो अन्न के गुण, धर्म कुछ और ही। अतः खाद जुदी चीज है तो अन्न उससे जुदी चीज। इसी प्रकार मांस जुदी चीज है और उसी जगह पैदा होने वाला दूध उससे जुदी चीज। मांस तमोगुण समुत्पादक है तो दूध सतोगुण सम्पादक। किसी के मांस को नोचा जावे तो कष्ट होता है किन्तु दूध को अगर न निकाला जावे तो कष्ट देने वाला हो रहता है। मांस उस २ प्राणी के शरीर का आधारभूत होता है तो दूध किसी के किसी समय कुछ काल तक के लिये। मांस हर समय हर हालत में कीटाणुओं का समुत्पत्ति स्थान होता है तो ताजा दूध कीटाणुओं से रहित। इत्यादि कारणों से मांस अग्राह्य है किन्तु दूध ग्रहण करने योग्य।

यहाँ पर एक तर्क और भी उठाई जा सकती है कि गाय का दूध निकालने वाला आदमी उसके बच्चे के हक को छीन लेता

है। अतः वह ठीक नहीं करता, परन्तु इस ऐसा कहने वाले को जरा सोचना चाहिये कि अगर गाय के दूध पर सर्वथा उसके बच्चे का ही अधिकार है, वह उसी के हक की चीज है तो फिर जो उस गाय को पालता पोषता है उसका भी कोई हक है या नहीं। यदि कहा जावे कि कुछ नहीं, तो फिर वह उसे क्यों पालता पोपता है? हाँ, जब तक कि बच्चा घास खाना न सीख जावे तब तक उसका ध्यान अवश्य रखना चाहिये। बाद में भी सारा का सारा ही न निकाल कर कुछ दूध उसके लिये भी छोड़ते रहना चाहिए।

(७२) नशेबाजी से दूर हो।

दुनियाँ की चीजों में से कुछ अन्न आदि चीजें तो ऐसी है जिनका सम्बन्ध मनुष्य की बुद्धि के साथ में नहीं होकर वे सब केवल शरीर के सम्पोषण के लिये ही खाये जाते हैं, ब्राम्ही, शंख, पुष्पी आदि जड़ी बूटियां ऐसी है जो मनुष्य की बुद्धि को ठिकाने पर रख कर उसके बढ़ाने में सहायक होती हैं परन्तु भांग, तम्बाखू, चरस, गांजा, सुलफा वगैरह वस्तुऐं ऐसी भी हैं जो उत्तेजना देकर मनुष्य की बुद्धि को विकृत बना डालती हैं। जिनके सेवन करने से काम वासना उद्दीप्त होती है। अतः ऐसी चीजों को कामुक लोग पहले तो शौकिया रूप से सेवन करने लगते है मगर जिस चीज का उन्हें नशा करने की आदत हो जाती है वह चीज यदि नही मिले तो विकल हो उठते हैं। बाज बाज आदमी तो नशे का इतना आदी हो जाता है कि उस नशे की धुन में अपने आपको भी भूलकर न करने लायक घोर अनर्थ करने को भी उतारू हो जाता है।

एक बार की बात है कि एक अफीमची अपनी औरत को ले आने के लिए ससुराल को गया। वहाँ से अपनी प्राणप्यारी को लेकर वापिस लौटा तो अपनी अफीम की डिबिया को वहीं भूल कर आ गया। रास्ते में जब उसके अफीम खाने का समय आया, देखे तो अफीम की डिबिया तो है नहीं। यह देखकर वह बड़ी चिन्ता मे पड़ गया और वहीं पर एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। औरत बोली कोई बात नहीं, गाँव अब थोड़ी ही दूर रहा है अभी चले चलते हैं, मर्द ने कहा मेरे से तो अब बिना अफीम के एक पैंड भी नहीं चला जावेगा। स्त्री ने कहा यहाँ जगल में अफीम कहाँ रखी है ? फिर भी अफीमची ने नहीं माना। स्त्री बड़ी उलझन मे पड़ी और इधर-उधर देखने लगी तो एक कुटिया दीख पड़ी, वहाँ गई तो उसमें एक आदमी बैठा पाया। जाकर बोली कि महाशय ! क्या आपके पास मे कुछ अफीम मिल सकती है ? मेरे स्वामी अफीम खाया करते हैं, उनके पास अफीम नहीं रही है। वह बोला अफीम है तो सही मगर वह मुफ्त में थोड़े ही मिलती है। स्त्री ने कहा आप जो उचित समझें वह मूल्य ले लीजिये और एक खुराक अफीम की दे दीजिये। कुटीचर ने कहा अफीम की एक खुराक का मूल्य एक बार एकान्तवास। यह सुनते ही स्त्री दंग रह गई और अपने स्वामी के पास लौटकर आई तो स्वामी ने फिर यही बात कही कि मैं क्या करूं ? मैं तो अफीम के पीछे विवश हूँ अतः जैसे हो वैसे ही मुझे तो अफीम ला कर दे तभी कुछ आगे की मुझे सूझेगी।

बन्धुओं ! देखा आपने अफीमची का हाल ? अफीमची का ही नहीं सभी तरह के नशेबाजों का ऐसा ही हिसाब है ! कोई कैसा

भी नशा करने वाला क्यों न हो उसकी चेतना तो उस नशे के आधीन हुआ करती है। कम से कम तम्बाखू बीड़ी पीने वाले को ही ले लीजिये। उसके पास भी समय पर तम्बाखू न होगी तो वह भी चाहे जिससे तम्बाखू मांग कर पीना चाहेगा। इसी लिए कहावत भी प्रसिद्ध है कि "अगर नहीं मांगना जानता है भीख, तो तम्बाखू पीना सीख" तमाखू पीने वाला स्वयं यह अनुभव करता है कि इसकी ही वजह से मुझे खांसी, श्वासादि अनेक रोग हो रहे हैं, फिर भी वह उसे छोड़ने के लिये लाचार हो रहता है। मतलब यह कि नशेबाज आदमी धर्म, धन और शरीर तीनों को ही खो डालता है इसीलिये हमारे महर्षियों ने इसे दुर्व्यसन बताया है। उन सब नशों में शराब का नशा सबसे अधिक बुरा है। गुड़, महुआ आदि चीजों को सड़ा कर उनसे शराब बनाई जाती है जो कि बहुत से त्रस जीवों का कलेवरमय हुआ करती है अतः उसका पीने वाला प्रथम तो बहुत से त्रस जीवों की हिंसा का पातकी बनता है फिर शराब की लत भी ऐसी बुरी होती है कि जिसमें भी वह पड़ गई, छूटना दुश्वार हो जाता है, शराब के नशे में चूर हुआ मनुष्य पागल ही क्या बाज बाज मौके पर तो बिल्कुल बे-भाव ही हो रहता है। इस शराबखोरी में पड़ कर कितने ही भले घराने भी बिगड़ कर बरबाद हो गये हैं। शराब पीये हुए के मुँह से ऐसी बुरी दुर्गन्ध आती है कि कोई भी भला आदमी उसके पास बैठना नहीं चाहता है। शराब पीना या और भी किसी प्रकार का नशा करना व्यभिचार का तो मूल सूत्र है। साथ ही वह मांस खाने की प्रेरणा देता है, मांस खाने वाला शिकार करने को बाध्य होता है। शिकार करना चोरी या दगेबाजी से

खाली नहीं है। हठात् किसी के प्राणधन को अपहरण करना तो सब से बड़ी चोरी है। इस प्रकार शराबखोरी सब तरह के अनर्थों का प्रधान कारण है ऐसा सोच कर समझदारों को इससे सर्वथा दूर ही रहना चाहिये।

(७३) रात्रि में भोजन करना मनुष्य के लिये अप्राकृतिक है।

शारीरिक शास्त्र जो कि मनुष्य स्वास्थ्य को दृष्टि में रख कर बना है उसका कहना है कि दिन में पित्त प्रधान रहता है तो रात्रि में कफ। एवं भोजन को पचाना पित्त का कार्य है अतः मनुष्य को दिन में ही भोजन करना चाहिये। इस लिये वैद्य लोग अपने रोगी को लंघन कराने के अनन्तर जो पथ्य देते हैं वह रात्रि में कभी भी न देकर दिन में ही देते हैं। दिन मे भी सूर्योदय से एक डेढ़ घन्टे के बाद से लगाकर मध्याह्न के बारह बजे से पहले ही पथ्य देने का आदेश करते हैं क्योंकि पित्त का समुत्तम काल यही है। हाँ एक बार का योग्य रीति से खाया हुआ अन्न अधिक से अधिक छः घन्टे मे पच कर फिर दुबारा खाने की प्रेरणा देता है। यानी दस बारह बजे के बीच में जिस आदमी ने भोजन किया है उसे चार छः बजे के बीच में फिर खाने की आवश्यकता हो जाती है। परन्तु अपराह्न मे जो किया जाय वह स्वल्प मात्र में होना चाहिये ताकि वह कफ का काल आने से पहले पचा लिया जा सके। ऐसी हमें हमारे वैद्यक शास्त्र की आज्ञा है।

रात्रि में कफ प्रधान, काम सेवनका और शयन का समय आ जाता है सो काम सेवन भी भोजनानन्तर में नहीं किन्तु भोजन का परिपाक होने पर करना ठीक होता है तथा शयन करना, नीन्द लेना तो भोजनानन्तर में बिल्कुल ही विरुद्ध कहा गया है। दिन में भी जब किसी रोगी को पथ्य दिया जाता है तो उसे उस अन्न के गहल से नीन्द आने लगती है फिर भी हमारे प्राणाचार्यों का कहना होता है कि अभी इसे नीन्द नहीं लेने देना अन्यथा तो यह खाया हुआ अन्न जहर बन जावेगा।

दिन भर काम करके थके हुये मनुष्य को अपनी थकान दूर करने के लिये कम से कम छ: घन्टे नीन्द लेना भी जरूरी माना गया है। अत: सूर्यास्त के समय सन्ध्या वन्दन करने के अनन्तर कुछ समय हास्यविनोद में बिता कर फिर रात्रि के दस बजे से लेकर चार बजे रात तक नीन्द लेनी चाहिये। चार बजे के बाद प्रातःकाल में अपने शरीर रूप यन्त्र के पुरजों को संशोधन कर साफ सुथरा बनाने के लिये भगवद्भजन पूर्वक शौच जाना और स्नान करना भी जरूरी हो जाता है।

फलितार्थ यह निकला कि दिन के नो दस बजे से लेकर दिन के चार पांच बजे तक का समय मनुष्य के लिये भोजन के योग्य होता है। उसमें त्यागी ब्रह्मचारियों के लिये तो महर्षियों ने एक ही बार भोजन करने का आदेश दिया है। गृहस्थ लोग पूर्वाह्न में और अपराह्न में इस तरह दो बार भोजन कर सकते हैं किन्तु जो लोग रात दिन में कई बार भोजन करते हैं, जब चाहा तभी खा लिया ऐसी आदत वाले होते हैं, ये लोग अपने मनचलेपन की वजह

से मनुष्यता को भूले हुये हैं ऐसा हमारे महापुरुषों का कहना है। एवं जो लोग रात में भी खाने से ही धन्धा रखते है उनमें और निशाचरों में तो फिर कोई भी अन्तर नहीं रह जाता है।

(७४) रात्रि में भोजन करने से हानि।

अकबर बादशाह कौम से मुसलमान थे किन्तु हिन्दुओं के साथ भी उनका अच्छा सम्पर्क था। उनका प्रधान मंत्री बीरबल भी ब्राह्मण था। उनके पास और भी भले २ हिन्दू रहते थे। एक दिन, दिन में खाने वाले किसी विचारशील हिन्दू आदमी ने उनसे कहा कि हुजूर! आप रात्रि में खाना खाते है यह ठीक नहीं कर रहे हैं। बादशाह बोले कि क्यों क्या हानि है? जवाब मिला कि हानि तो बहुत है। सब से पहली हानि तो यही है कि रात्रि में अन्धकार की वजह से भोजन में क्या है और क्या नहीं है, यही ठीक नहीं पता चला करता है। तब बादशाह बोले कि दीपक के उजाले मे अच्छी तरह से देखकर खाया जावे तो फिर क्या बात रह जाती है? जवाब मिला कि बात तो और भी है परन्तु अभी आप इतना ही करें कि दीपक के प्रकाश में अच्छी तरह से देख कर ही खाया करें। अब बादशाह रोज ऐसा ही करने लगे। एक रोज सजा हुवा थाल बादशाह के आगे टेबिल पर ला कर रखा गया तो बादशाह बोले कि दीपक लाओ तब देखकर खाया जावेगा। दीपक आया और देखा गया तो भोजन में घी और मीठे की वजह से जहरीली कीड़ियों का नाल लगा हुवा है। बादशाह को विचार आ गया तो नियम किया कि आगे के लिये रात्रि को न खाकर दिन में ही खाया जावे यही बात अच्छी है।

हाँ! यह कहा जा सकता है कि वह समय कुछ और था। आज तो स्थान २ पर बिजली की रोशनी होती है जिसमें अच्छी तरह देख कर खा लिया जा सकता है, परन्तु ऐसा कहने वालों को इतना भी तो सोचना चाहिये कि बिजली के प्रकाश में भी पतंगे, मच्छर वगैरह आकर भोजन में पड़ेंगे। जिनमें कितने ही मच्छर ऐसी भी होते हैं जिनके कि खाने में आ जाने से अनेक प्रकार के भयङ्कर रोग हो जाते हैं।

(७५) पर्यालोचन

मनुष्य विस्मरणशील होता है और उसके जुम्मे अपने शरीर को सँभाल कर रखना, बाल बच्चों का लालन पालन करना, अभ्यागतों का सत्कार करना, बुजुर्गों की टहल करना, दीन-दुःखियों की सेवा करना, मित्र दोस्तों के साथ प्रेम से सम्भाषण करना, भगवद्भजन करना आदि अनेक तरह के कार्य लगे हुये होते हैं। उनमें से कौन सा कार्य किस प्रकार से आज मुझे सम्पादित करना चाहिये, कौन से कार्य सम्पादित करने मे मैंने क्या गलती खाई है? कहीं मैंने मेरे तन मन वचन और धन के घमण्ड में आकर कोई न करने योग्य अनुचित बर्ताव तो नहीं कर डाला है, मेरे रहन सहन में किसी गरीब भाई का किसी भी प्रकार का कोई नुकसान तो कहीं नहीं हुआ है? तथा किसी भी बुजुर्ग का मेरे से कोई अविनय तो नहीं बन पड़ा है? इस प्रकार से सोच कर देखना। अगर कोई भी तरह की कुचेष्टा बन गई हो तो भगवान को स्मरण कर उनके सम्मुख पश्चाताप करना और आगे के लिये कभी नहीं

होने देने का दृढ़ संकल्प करना चाहिये। प्रतिदिन सुवह और सायंकाल को इस प्रकार सँभाल करते रहने से मनुष्य की बुद्धि निर्मल वनी रहती है और वह साण पर चढ़ा कर तैयार की हुई तलवार के समान तीखी बनकर अपने करने योग्य कार्य को आसानी के साथ कर जा सकती है।

(७६) उपवास का महत्व।

यह कोई नई बात नहीं है कि शरीर को स्थिर रखने के लिये आहार की खास आवश्यकता होती है। जो कुछ हम भोजन करते हैं उसका रस रक्तादि बन कर हमारे शरीर को बनाये रखने में सहायक होते हैं। परन्तु वह भोजन भी प्राकृतिक और मित-मात्रा में तथा समुचित रीति से खाया जाना चाहिये, नहीं तो वही भोजन लाभ के स्थान पर हानिकारक हो रहता है। भोजन शरीर का साधन है इसीलिये यह शरीरधारी भी भोजन का आदी वना है और इसीलिये हो सके जहाँ तक अच्छे से अच्छा स्वादिष्ट रुचिकर भोजन बनाकर खाया करता है। भोजन रुचिकर होने से कभी २ अत्यधिक मात्रा में भी खा लिया जाता है जिससे कि अजीर्ण होकर शरीर के रोगी बनने का अन्देशा रहता है। अतः उस अजीर्ण को दूर करने के लिये उपवास करने की अर्थात् भोजन न करने की आवश्यकता होती है।

हाँ, उपवास करने में जिस प्रकार भोजन के त्याग करने की जरूरत होती है, उसी प्रकार अपने मन और इन्द्रियों को भी वश में रखने की आवश्यकता पड़ती है, मन को वश में किये बिना

जो भोजन त्याग कर दिया जाता अर्थात् खाना नहीं खाया जाता, वह लंघन कहलाता है और लंघन से कभी २ लाभ के स्थान पर हानि हो जाया करती है।

एक समय एक मोटी बुद्धि का आदमी अपनी औरत को लिवा लाने के लिये ससुराल में गया। वहाँ उसके लिए अच्छे पदार्थ खाने के लिये बने तो स्वादिष्ट समझ कर उन्हें वह खूब खा गया। अतः अजीर्ण हो जाने से वैद्य ने उससे कहा, कम से कम आज भर के लिये तुम खाना मत खाओ ताकि तुम्हारा अजीर्ण पच कर ठीक हो जावे। इस पर उसने भोजन नहीं किया, मगर उसका मन भोजन के लिये ललचाता रहा अतः वह दिन भर तो ससुराल वालों की शर्म खाकर बिना खाये रहा किन्तु जब रात हुई तो सोचा कि कुछ न कुछ तो खाना ही चाहिये, नहीं तो फिर यह पहाड़ जैसी लम्बी रात कैसे कटेगी ? इधर उधर को देखा तो अपनी खटिया के नीचे चावलों की भरी थरिया रखी थी, उसमें से एक मुट्ठी भर कर मुंह में ले गया। इतने ही में घर वाली आगई तो अब उन्हें चबावे कैसे ? उसके सामने शर्म के मारे वह मुंह फुलाये रहा। उसे ऐसी हालत में देख कर उसकी घर वाली ने अपनी माँ को आवाज दी। दोनों गौर से देख कर कहने लगी कि इनके तो कुछ रोग हो गया है जिससे गाल फूल गये हैं और मुंह खोला नहीं जाता है। डाक्टर को बुलाया गया तो यथार्थ बात को समझते हुए भी अपनी डबल फीस अदा करने के विचार से उसने उसके गाल पर नश्तर लगाया और नखचूटी से एक चावल खून में भिगोकर निकाला तथा दिखाते हुये कहा कि इनके तो अजीर्ण के कोप से मुंह मे कीड़े पड़ गये हैं। अतः तुम

ोनों बाहर चली जाओ, मुझे इन कीड़ों को धीरे धीरे नेकालने दो। माँ बेटी अफसोस करती हुई बाहर चली गई तो ाक्टर ने कहा कि कमअक्ल! अब तो इन चावलों को थूक दे, भगर भूखा नहीं रहा जाता है तो अब तुझे दूध पिला दिया जावेगा। ससने मिट्टी भरे सकोरे में थूक दिया। डाक्टर ने उन पर और मेट्टी डालदी और उन दोनों औरतों को बुला कर कहा-जाओ इन वषैले कीड़ों को गढ़ा खोद कर दबा दो तथा इन्हें दूध पिलाओ।

मतलब इस सबका यह कि बिना मन को वश में किये जो उपवास किया जाता है उससे ऐसा ही दुरुपयोग होता है। हाँ, मन मौर इन्द्रियों को वश में रख कर जो उपवास किया जाता है तो उससे आत्मबल बढ़ता है। हमारे भारत के हृदय सम्राट महात्मा गांधीजी ने तो उपवास के बल पर बड़े बड़े कार्य कर बताये थे। उनके सत्याग्रह, असहयोग और उपवास ये तीन ही खास प्रयोग थे। हमारे अर्थ-शास्त्रों में भी उपवास की बड़ी ही महिमा बताई है। साधु महात्मा लोगों के करने योग्य तपश्चरण में तो सब से पहिला नम्बर उपवास का ही रखा गया है किन्तु गृहस्थों को भी कम से कम एक सप्ताह में एक उपवास अवश्य करने के लिये कहा गया है।

(७७) दान करना।

दान का सीधा सा मतलब है अपने तन मन और धन से औरों की सहायता करना। मनुष्य जीवन ही ऐसा है कि किसी न किसी रूप में दूसरे से सहायता लिये बिना उसका कुछ भी काम

नहीं बन सकता है। जब कि औरों से सहायता लिये बिना निर्वाह नहीं तो फिर औरों की सहायता करना भी उचित ही है। अतः दान करना परमावश्यक है परन्तु इसके साथ यह बात भी सही है कि यह मनुष्य लेना तो जानता है और देने में संकोच किया करता है।

आम तौर पर देखने में आता है कि मनुष्य दोनों हाथों से कमाया करता है मगर खाता एक हाथ से है, इसका मतलब यही कि मनुष्य काम धन्धे में अपने दोनों हाथों पर भरोसा रखे, अपने कर्त्तव्य कार्य को दूसरे से करवा लेने का विचार अपने मन में कभी न आने दे। प्रकृति ने जब खुद को दो हाथ दिये हैं तो फिर क्यों व्यर्थ ही दूसरे के सहारे को टटोलता रहे? हरेक समुचित काम को सबसे पहले अपने आप खुद कर बताने को तैयार रहे। हाँ, जो अपने दोनों हाथों की कमाई है उसमें से एक हाथ की कमाई को तो अपने शरीर के निर्वाह में और कुटुम्ब के पालन पोषण में खर्च करे। शेष एक हाथ की कमाई को परमार्थ के लिये बचाकर रखे उसे परोपकार के कार्यों में खर्च करे। लेने के स्थान पर किसी को कुछ देना सीखे ऐसा हमारे बुजुर्गों का कहना है।

हर एक को चाहिये कि घर पर आये हुये आत्मा को होनहार परमात्मा मानकर उसका सत्कार करे और कुछ नहीं तो कम से कम मिष्ट सम्भाषण पूर्वक अपने पास बैठने को उसे जगह देवे। भूखे को रोटी खिला कर प्यासे को पानी पिला दे। भूले भटके हुये को सही रास्ता बतलादे।

(७८) दान अपनी कमाई में से देना।

किसी एक गॉव का राजा मर जाने से उसकी एवज में उसके बेटे का राजतिलक होने लगा। जिसकी खुशी में वहॉ उसने दान देना शुरू किया जिसे सुन कर बहुत से आशावान् लोग वहॉ पर जमा हो गये। उन्हीं में एक पढ़ा लिखा समझदार पण्डित भी था जिसने होनहार राजा की प्रशंसा में कुछ श्लोक पढ़ कर सुनाए। राजा बड़ा खुश हुआ और बोला कि तुमको जो चाहिये सो लो। पण्डित ने कहा मैं अभी आप से क्या लूं? फिर कभी देखा जावेगा। राजा ने कहा कि कुछ तो अभी भी तुम को मुझ से लेना ही चाहिये। पंडित बोला कि यदि आप देना ही चाहते हैं तो एक रुपया मुझे दे दीजिये मगर वह आपका अपनी कमाई का होना चाहिये। इसको सुन कर और सब लोग तो कहने लगे कि इसने राजा से क्या मांगा? कुछ नहीं मांगा। परन्तु राजा ने सोचा कि इसने तो मुझ से बहुत बड़ा दान मांग लिया क्योंकि मेरे पास इस समय मेरा कमाया हुआ तो कुछ भी नहीं है यह जो राज्य सम्पत्ति है वह तो या तो पिता जी की देन है या यों कहो कि इस पर आम प्रजा का अधिकार है। मेरा इसमें क्या है? अतः मैं मेरी मेहनत से कमाकर लाकर एक रुपया इसे दूं मैं उसके बाद ही इस राज्य सिहासन पर बैठूंगा ऐसा कह कर कोई काम करने की तलाश में गांव से चला गया। इसे राजपुत्र तथा होनहार राजा समझ कर जिसके भी पास में वह गया तो उसका सम्मान तो खूब ही हुआ मगर उससे कोई भी काम कैसे लेवे और क्या काम लेवे। अतः बहुत देर तक चक्कर काटते २

वह एक लुहार की दुकान पर पहुँचा। लुहार लोहा गरम करके उसे घन से कूटने को था जो कि अकेला था, दूसरे किसी सहकारी की प्रतीक्षा में था। उसके पास जाकर बोला कुछ काम हो तो बताओ ? तब लुहार बोला आओ मेरे साथ इस लोहे पर घन बजाओ और शाम तक ऐसा करो तो तुम्हें एक रुपया मिल जावेगा। राजपुत्र ने सोचा ठीक है परन्तु जहाँ उसने घन को उठाकर एक दो वार चलाया तो उसका सारा शरीर पसीने में तर वतर हो गया। राजपुत्र बोला कि बावा यह काम तो वड़ा कठिन है, जवाब मिला कि नहीं तो फिर रुपया कहीं ऐसे ही थोड़े ही मिल जाता है ? खून का पानी हो जाता है तो कहीं पैसा देखने को मिलता है। राजपुत्र सुन कर दंग रह गया परन्तु और करता भी क्या ? लाचार था। जैसे तैसे करके दिन भर घन वजाकर रुपया लिया तथापि समझ जरूर गया कि आम गरीव जनता इस प्रकार परिश्रम करके पेट पालती है। हम सरीखे राज-घराने वालों को इसका विल्कुल भी पता नहीं है अगर वह पण्डित ऐसा दान देने को न कहता तो मुझे भी क्या पता था ? कि प्रजा के लोगों को अपना, अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण करने के लिये किस प्रकार कष्ट सहन करना पड़ता है। अस्तु, राजपुत्र वह रुपया ले जाकर पण्डित को देते हुए कहने लगा कि महाशय जी धन्य है, आपने मेरी आंखें खोल दीं। पण्डित बोला, प्रभो! मुझे यह एक रुपया देकर उसके फलस्वरूप अब आप सच्चे राजा हो रहेंगे।

(७६) दान का सही तरीका

आपने "राजस्थान इतिहास" देखा होगा। वहाँ महान् उदयन का वृत्तान्त लिखा हुआ है। वह मननशील विद्वान था, परन्तु दरिद्रता के कारण उसके पैर जमीन पर नहीं जम सके थे। अतः वह नंगे पैर मारवाड़ के रेतीले मैदान को पार करते हुए बड़े कष्ट के साथ सिद्धपुर पाटन तक पहुँच पाया। उसने दो दिन से कुछ भी नहीं खाया था और शरीर पर मैले तथा फटे कपड़ों को पहरे हुये था। वह वहाँ पहुँच तो गया परन्तु वहाँ भी उसे कौन पूछने वाला था? उसका नाते रिश्तेदार या परिचित तो था ही नहींजो कि उसके सुख दुःख की उसे पूछता। थोड़ी देर बाद वह एक जैन धर्मस्थान के द्वार पर जा बैठा। यद्यपि वहाँ पर धर्म साधन करने के लिये अनेक लोग आते थे और ईश्वरोपासना तथा धर्मोपदेश करके जा रहे थे जिनमें कितने ही श्रीमान् लोग भी थे जिनके गले में सोने के आभूषण और शीश पर सुनहले काम की पगड़ियाँ चमक रही थीं। जो कि अपनी नामवरी के लिये तिजोरी खोल कर पैसे को पानी की भांति बहाने वाले थे मगर गरीब मुसाफिर की तरफ कौन देखने वाला था।

हाँ! थोड़ी देर बाद एक बहनजी आई। जिसका नाम लक्ष्मीबाई था। वह यथा नाम तथा गुण वाली थी। उसने उसी दिन उदयन को विकल दशा में बैठे हुये देखा तो पूछा कि यहाँ पर किस लिये आये हो? जवाब मिला कि रोजी की तलाश में। बहनजी ने फिर पूछा कि क्या तुम्हारी जान पहचान का यहाँ पर कोई है?

जवाब मिला कि नहीं। क्षण भर विचार कर बहनजी ने कहा कि भाईजी फिर कैसे काम चलेगा? विना जान पहचान के तो कोई पास में भी नहीं बैठने देता है। उदयन ने कहा बहनजी! कोई बात नहीं, मैं तो अपने पुरुषार्थ और भाग्य पर भरोसा करके यहाँ पर आ गया हूँ। अगर कोई अच्छा काम मिल गया तब तो अपने दो हाथ बताऊँगा, नहीं तो भूखा रहकर मर मिटूँगा। इतना सुनते ही लक्ष्मीबाई बोली कि अभी भोजन किया है या नहीं? इस पर उदयन बोला कि बहनजी मुझे भोजन किये हुये दो रोज हो लिये हैं और न जाने कितने दिन और ऐसे ही निकल जावेंगे। परन्तु भूख की चिन्ता नहीं है अगर भूख की परवाह करता तो फिर मैं मेरे गांव से इतनी दूर तक चल कर भी कैसे आ जाता?

यह सुनते ही लक्ष्मीबाई का हृदय हिल गया, वह बोली कि तुम मेरे साथ चलो, भाई! भोजन तो करो फिर जैसा कुछ होगा देखा जावेगा। उदयन ने कहा बहनजी आप तो ठीक ही कह रही हैं, मगर मैं आपके साथ कैसे चलूँ? मैंने आपके यहाँ का कोई भी कार्य तो किया नहीं, फिर आपके साथ मुफ्त की रोटी खाने को कैसे चल सकता हूँ। लक्ष्मीबाई बोली तुम ठीक कह रहे हो, मगर तुमने मुझे बहन कहा है और मैंने तुम को भाई, फिर भाई के लिये बहन की रोटी मुफ्त की नहीं होती- किन्तु अभूतपूर्व भ्रातृ स्नेह के उपहार स्वरूप होती है। अत उसके खाने में कोई दोष नहीं है। तुम भले ही किसी भी कौम के, कोई भी क्यों न हो मगर धार्मिकता के नाते से जब कि तुम मेरे भाई हो और मैं तुम्हारी बहन फिर संकोच कैसा? तुम को तो सहर्ष मेरा कहना स्वीकार

कर लेना चाहिये, अन्यथा तो फिर मेरे दिल को बड़ी ठेस लगेगी। भाई साहब ! अतः कृपा कर मेरा कहना स्वीकार कीजिये और मेरे साथ चलिये।

लक्ष्मीबाई के इस तरह के स्वाभाविक सरल विनिवेदन का उदयन के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। अतः वह उसके साथ हो लिया। घर जाकर लक्ष्मीबाई ने उदयन को प्रेम और आदर के साथ भोजन कराया तथा अपने पतिदेव से कह कर उसके योग्य कुछ समुचित काम भी उसे दिलवा दिया, जिसे पाकर उन्नति करते हुये वह धीरे धीरे चल कर एक दिन वही सिद्धपुर पाटन के महाराज का महामंत्री बन गया। जिसने प्रजा के नैतिक स्तर को ऊँचा उठा कर उसे सन्मार्गगामिनी बनाया।

मतलब यह कि वही सच्चा दान होता है जो कि दाता के सात्त्विक भावों से ओतप्रोत हो एवं जिसको दिया जावे उसकी आत्मा को भी उन्नत बनाने वाला हो तथा विश्वभर के लिये आदर्श मार्ग का सूचक हो।

(८०) बड़ा दान।

यद्यपि आमतौर पर लोग एक रुपया देने वाले की अपेक्षा पाँच रुपये देने वाले को और पाँच देने वाले की अपेक्षा पचास तथा पाँच सौ देने वाले को महान् दानी कहकर उसके दान की बड़ाई किया करते हैं। मगर समझदार लोगों की निगाह में ऐसी बात नहीं है क्योंकि एक आदमी करोड़पति, अरबपति जिसकी अपने खर्च के बाद भी हजारों रुपये रोजाना की आमदनी है वह

आडे हाथ भी किसी को यदि सौ रुपये दे देता है तो उसके लिये ऐसा करना कौनसी बड़ी बात है।

हाँ, कोई गरीब भाई दिन भर मेहनत मजदूरी करके बड़ी मुश्किल से कहीं अपना पेट पाल पाता है। वह आदमी अपनी उन दो रोटियों में से आधी रोटी भी किसी भूखे को देता है तो वह उसका दान बड़ा दान है उसकी बड़ी महिमा है। वह महाफल का दाता होता है।

एक समय की बात है, मैं कलकत्ते में काम किया करता था तो वहां कांग्रेस का सालाना जलसा हुआ, जिसके अन्त में महात्मा गांधीजी ने कांग्रेस की सहायता करने के लिये आम जनता के सम्मुख अपील रखी। जिसको लेकर किसी मकानदार ने अपना एक मकान कांग्रेस को दिया तो किसी धनवान ने लाख रुपये, किसी ने पचास हजार रुपये इत्यादि। इतने में एक खांचा मुटिया आया और बोला कि महात्मा जी! मै भी ये आठ आने पैसे जो कि दिन भर मुटिया मजदूरी करने से मुझे प्राप्त हुये हैं, देश सेवार्थ कांग्रेस के लिये अर्पण करता हूँ। क्या करूँ अधिक देने में असमर्थ हूँ रोज़ मजदूरी करता हूँ और पेट पालता हूँ मगर मैंने यह सोचकर कि देश सेवा के कार्य में मुझे भी शामिल होना चाहिये, यह आज की कमाई कांग्रेस की भेंट कर रहा हूँ। मैं आज उपवास से रह लूँगा और क्या कर सकता हूँ?

इस पर गाँधीजी ने उस भाई की भूरि भूरि प्रशंसा की थी और कहा था कि हमारे देश में जब ऐसे त्यागी पुरुष विद्यमान हैं।

तो फिर हमारे देश के स्वतन्त्र होने में अब देर नहीं समझना चाहिये। हमारे पुराने साहित्य में भी एक कथा आती है कि एक मेहनतिया था जो कि मेहनत करके उसके फल स्वरूप कुछ अनाज लाया और लाकर उसने उसे अपनी घरवाली को दिया ताकि वह उसे साफ सुथरा करके पीस कर उसकी रोटियाँ बनाले। औरत ने भी ऐसा ही किया उसने उसकी मोटी मोटी तीन रोटियां बनाई क्योंकि उसके एक छोटा बच्चा भी था। अतः उसने सोचा कि हम तीनों एक एक रोटी खाकर पानी पी लेवेंगे। रोटियां बन कर जब तैयार हुई तो मरद के दिल में विचार आया कि यह कमाना और खाना तो सदा से लगा ही हुआ है और जब तक जिन्दगी है लगा ही रहेगा। हमारे बुजुर्गों ने बताया है कि कमा खाने वाले को कुछ परार्थ भी देना चाहिये तो आज तो फिर यह मेरे हिस्से की रोटी किसी अन्य भूखे को ही दे दूं। मैं आज भूखा ही रह लूंगा। इतने ही में उसे एक मासोपवासी क्षीणकाय दिगम्बर परमहंस साधु दिखाई दिये। तो उन्हें देख कर वह बोला कि साधु जी! प्रणाम, मेरे पास रूखी सूखी और बिना नोन की जौ की रोटी है मैं इसे मनसा वाचा कर्मणा आपके लिये देना चाहता हूं। आइये और आप इसे खा लीजिये। साधु तो मन और इन्द्रियों के जीतने वाले होते हैं। सिर्फ इस शरीर से भगवद्भजन बन जावे इस विचार को लेकर इसे चलाने के लिये कुछ खुराक दिया करते हैं। जिस पर भी उन के तो आज ऐसा ही अभिग्रह भी था। अतः उन्होंने उसकी दी हुई उस रोटी को अपने हाथों में ली और खड़े खड़े ही मौनपूर्वक खा गये। इतने में औरत ने भी विचार किया कि ऐसे साधुओं के दर्शन कहाँ

रखे हैं। हम लोगों का बड़ा भाग्य है ताकि हमारा रूखा सूखा अन्न आज इनके उपयोग में आ रहा है। लड़के ने भी सोचा कि ओह ये तो हम लोगों से भी गरीब दीख रहे हैं।

जिनके शरीर पर विल्कुल कपड़ा नहीं, खाबे के लिये कोई पात्र नही, रहने को जिनका कोई घर नही इनके काम में मेरी रोटी आ गई इससे भली बात और क्या होगी ? इस पर देवताओं ने भी अहो यह दान महादान है ऐसा कहते हुए आकाश में से फूल वर्षाये तथा जय जय कार किया। सो ठीक ही है। परमार्थ के लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देना ही मनुष्य जन्म पाने का फल है अन्यथा तो फिर स्वार्थ के कीच में तो सारा संसार ही फँसा हुआ दीख रहा है।

(८१) समाधिमरण।

जिसने भी जन्म पाया है, जो भी पैदा हुआ है उसे मरना अवश्य होगा, यह एक अटल नियम है। बड़े बड़े वैज्ञानिक लोग इस पर परिश्रम कर के थक लिये कि कोई भी जन्म लेता है सो तो ठीक, मगर मरता क्यों है ? मरना नहीं चाहिये। फिर भी इस में सफल हुआ हो ऐसा एक भो आदमी इस भूतल पर नहीं दिख पड़ रहा है। धन्वन्तरिजी वैष्णवों के चौवीस अवतारों में से एक अवतार माने गये हैं। कहा जाता है कि जहाँ वे खड़े हो जाते थे, वहाँ की जड़ी बूटियां भी पुकार पुकार कर कहने लगती थीं कि मैं इस बीमारी में काम आती हूं, मैं अमुक रोग को जड़ से उखाड़ डालती हूँ। मगर एक दिन आया कि धन्वन्तरि खुद ही इस भूतल पर से चल बसे। जड़ी बूटियां यहीं पड़ी रही और धन्वन्तरि शरीर त्याग

कर चले गये। उनका औषधिज्ञान इस विषय में कुछ भी काम नहीं आया—

मुसलमानों में भी लुकमान जैसे हकीम हुये हैं जो कि चौदह पीरों मे से एक पीर कहे जाते हैं। मगर मौत आकर उनका भी लुकमा कर गई। जैसे सिंह हिरण को और बाज तीतर को धर दबाता है। वैसे ही मौत मनुष्यों को एवं समस्त शरीरधारियों को हड़प लेती है, वह कब किसको अपना ग्रास बनायेगी यह निश्चित रूप से हम तुम सरीखा नहीं जान सकता है। अनेक लोग मौत से बचने के लिये टोणा टामण जन्तर मन्तर करते हैं। तावीज बनाकर गले मे वान्धते हैं। फिर भी मौत अपना दाव नही चूकती, समय पर आ ही दबाती है। उससे बचने के लिये शरीरधारी के पास कोई भी चारा है ही नहीं। ऐसी हालत में समझदार आदमी मौत से डर कर भागे तो क्यो भागे ? और भाग कर जावे भी कहाँ, उसके लिये जगह भी कहाँ तथा कौनसी है जहाँ कि वह उससे बच रहे।

हां, तो इसका क्या अर्थ है कि गले में अंगुली डाल कर मर जाना चाहिये ? सो नहीं, क्योंकि ऐसा करना तो नर से नारायण बना देने वाले इस मानव शरीर के साथ विद्रोह करना है ? चिन्ता-मणि रत्न को हथोड़े की चोट से बरवाद करना है। यह पहले दर्जे की वेसमझी है। परन्तु इसको किराये की कोठरी के समान समझते हुये रहना चाहिये।

जैसे किसी को कुछ अभीष्ट करना हो और उसके पास अपना नियत स्थान न हो तो वह किसी किराये के मकान में रहकर

अपने उस कार्य का साधन किया करता है। सिर्फ वहाँ पर रहकर अपना कार्य कर बताने पर दृष्टि रखता है, न कि उस मकान का मालिक ही बन बैठता है। मकान को तो मकानदार जब भी खाली करवाना चाहे करवा सकता है यह उसे बेउज्र खाली कर देने को तैयार रहता है। क्योंकि मकान उसका है। हां जब तक उसमें रहे यथा शक्य झाड़ पोंछ कर साफ सुथरा किये रहे, यह उसकी समझदारी है।

जीवात्मा ने भी भगवान का भजन कर अपना कल्याण करने को इस शरीर रूपी कुटिया को अपना स्थान बनाया है सो इसमें रहते हुए इसके सम्मुख अनेक तरह के भले और बुरे प्रसङ्ग आ उपस्थित होते हैं। उनमें से बुरे को बुरा मानकर उन से दूर भागने की चेष्टा करना और भलों को भला मानकर उनके पीछे ही लगा रहना इस उलझन में ही फँस जाना ठीक नहीं। किन्तु उन दोनों तरह के प्रसंगों में तटस्थ रूप से सुप्रसन्न हो कर निरन्तर परम परमात्मा का स्मरण करते रहना चाहिये। फिर यह शरीर यदि कुछ दिन टिका रहे तो ठीक और आज ही नष्ट हो जावे तो भी कोई हानि नहीं ऐसे सुप्रसिद्ध पुरुष के लिये मौत का कोई डर नहीं रह जाता, जिस मौत के नाम को सुन कर भी संसारी जीव थर थर कांपा करते हैं।

(८२) मौत क्या चीज है ?

एक सेठ था जिसके पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से ऐहिक सुख की सब तरह की साधन सामग्री मौजूद थी। अतः उसे यह

भी पता नहीं था कि कष्ट क्या चीज होती है ? उसका प्रत्येक क्षण अमन चैन से बीत रहा था। अब एक रोज उसके पड़ौसी के यहाँ पुत्र जन्म की खुशी में गीत गाये जाने लगे जो कि बड़े ही सुहावने थे, जिन्हें सुनकर उस सेठ का दिल भी बड़ा खुश हुआ। परन्तु संयोगवश थोड़ी देर बाद ही वह बच्चा मर भी गया तो वहाँ पर गाने के स्थान पर छाती और मूँह कूट कूट कर रोया जाने लगा। जिसे सुन कर सेठ के मन में आश्चर्य हुआ। अतः उसने अपनी माता से पूछा कि मैया यह क्या बात है ? थोड़ी देर पहिले जो गाना गाया जा रहा था वह तो बहुत ही सुरीली आवाज में था मगर अब जो गाना गाया जा रहा है वह तो सुनने में बुरा प्रतीत हो रहा है।

माता ने कहा, बेटा! यह गाना नहीं किन्तु रोना है। थोड़ी देर पहिले जिस बच्चे के जन्म की खुशी में गीत गाये जा रहे थे वही बच्चा अब मर गया है जिसे देखकर उसके घर वाले अब रो रहे हैं। सेठ दौड़ा और जहां वह बच्चा मरा हुआ पड़ा था तथा लोग रो रहे थे, वहाँ गया। उसने उस मरे हुए बालक को देखा और खूब गौर से देखा। देखकर वह बोला कि क्या मरा है। इसका मुँह, कान, नाक, हाथ, आँखें और पैर आदि सभी तो ज्यों के त्यों हैं फिर आप लोग रो क्यों रहे हैं ? तब उन रोने वालों में से एक आदमी कहने लगा कि सेठ साहब आप समझते नहीं हो, तुमने दुनियाँ देखी नहीं है इसीलिये ऐसा कहते हो। देखो अपने लोगों का पेट कभी ऊँचा होता है और कभी नीचा लेकिन इसका नहीं हो रहा है। अपनी छाती धड़क रही है परन्तु इसकी छाती में

धड़कन बिल्कुल नहीं है। मतलब कि हम लोगों के इन जिन्दा शरीरों में एक प्रकार की शक्ति है जिससे कि जीवन के सब कार्य सम्पन्न होते हैं जिसका कि नाम है आत्मा। वह आत्मा इसके शरीर में नहीं रही है अतः यह मुर्दा यानी वेकार हो गया है। हम लोगों के शरीरों में से वह निकल जाने वाली है सो किसी की दो दिन पहिले और किसी की दो दिन पीछे अवश्य निकल जावेगी एवं हमारे ये शरीर भी इसी प्रकार मुर्दा वन जावेंगे, मौत पा जावेंगे।

आत्मा जिसका कि वर्णन ऊपर आ चुका है जिसके कि रहने पर शरीर जिन्दा और न रहने पर मुर्दा बन जाता है वह आत्मा अपने मूल रूप में शाश्वत है कभी भी नष्ट नहीं होने वाली है और अमूर्तिक है उसमें न तो किसी भी प्रकार का काला पीला आदि रूप है, न खट्टा, मीठा, चरपरा आदि कोई रस है। न हलका, भारी, रूखा, चिकना, ठण्डा, गरम और कड़ा या नरम हो है। न खुशबूदार या बदबूदार ही है। हाँ सिर्फ चेतनावान है, हरेक चीज के गुण दोषों पर निगाह करने वाला है। जिसमें अवगुण समझता है उससे दूर रह कर गुणवान के पीछे लगे रहना चाहता है। यह इसकी अनादि की टेव है जिसकी वजह से नाना तरह की चेष्टाएँ करने लग रहा है। उन चेष्टाओं का नाम ही कर्म है। उन कर्मों की वजह से ही शरीर से शरीरान्तर धारण करता हुआ चला आ रहा है इसी का नाम संसार चक्र है।

संसार चक्र में परिश्रम करता हुआ आत्मा इतर जीवात्मा को कष्ट देने वाला बनकर नरक में जा जन्म लेता है तो वहाँ स्वयं अनेक प्रकार के घोर कष्ट सहन करता है। अपने ऐश आराम की

सोचते रहकर छल वृत्ति करने वाला पशु या पक्षी बनता है तो वहाँ अपने से अधिक बलशाली अन्य प्राणियों द्वारा वन्चना पूर्वक कष्ट उठाता है। हाँ, अगर औरों के भले की सोचता है तो उसके फल-स्वरूप स्वर्ग में जन्म लेकर सुख साता का अनुभव करने वाला बनता है। परन्तु सन्तोष भाव से अपना समय विताने वाला मानव बनता है जिस मानव जन्म में अपने आपके उद्धार का मार्ग यदि वह चाहे तो ढूँढ निकाल सकता है। लेकिन अधिकांश जीवात्मा तो मानव जन्म पाकर भी मोह माया में ही फँसे रहते हैं। इस शरीर के सम्वन्धियों को अपना सम्वन्धी मानकर उनमें मेरा २ करने वाला और बाकी के दूसरों को पराये मान कर उनसे नफरत करने वाला होकर रहता है।

कोई विरला ही जीव ऐसा होता है जो कि शरीर से भी अपने आप (आत्मा) को भिन्न मानता है एवं जब कि आप इस शरीर से तथा इतर सब पदार्थों से भी भिन्न है। ऐसी हालत में पराये गुण दोषों पर लुभाने से क्या हानि लाभ होने वाला है। पराये गुण दोष परमें होते हैं उनसे इसका क्या सुधार विगाड़ हो सकता है ? क्यों व्यर्थ ही उनके बारे में संकल्प विकल्प करके अपने उपयोग को भी दूषित बनावे ? तटस्थ हो रहता है। उसके लिये फिर इस संसार में न कोई भी सम्पत्ति ही होती है और न कोई विपत्ति ही, वह तो सहज तथा सच्चिदानन्द भाव को प्राप्त हो रहता है।

समता के द्वारा ममता को मिटा डालता है। क्षमा से क्रोध का अभाव कर देता है। विनीत वृत्ति के द्वारा मान का मूलोच्छेद

कर फैंकता है। अपने तन, मन, और वचन में प्राप्त किये हुए सरल भाव से कपट को पास में भी नहीं आने देता और निरीहर के द्वारा लोभ पर विजय पा जाता है। इस प्रकार कर्मजयी बन क आत्मा से परमात्मा हो लेता है फिर सूखे हुये घाव पर खरूँट कं भांति उसका यह शरीर भी अपने समय पर उससे अपने आप दूः हो जाता है। आगे के लिये फिर कभी शरीर धारण नहीं करन पड़ता।

* ॐ शान्ति *

यही एक कर्तव्य है सुखी बनें सब लोग।
रोग शोक दुर्भोग का कभी न होवे योग॥
यही एक कर्तव्य है कहीं न हो संत्रास।
किसी जीव के चित्त में, सब लें सुख की साँस॥
यही एक कर्तव्य है कभी न हो दुष्काल।
भूप और अनुरूप भी सभी रहें खुशहाल॥

इति शुभं भूयात्!